अभय की खोज

युवाचार्य महाप्रज्ञ

संपादक

मुनि दुलहराज

ज्ञातव्य : यह संकलन युवाचार्य महाप्रज्ञ की सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'कैसे सोचें' का अन्तिम अध्याय है।

द्वितीय संस्करण : १९८५

मूल्य : चार रुपये मात्र

प्रकाशक : तुलसी अध्यात्म नीडम्
जैन विश्व भारती, लाडनूं

मुद्रक : मित्र परिषद् कलकत्ता द्वारा स्थापित जैन विश्व भारती प्रेस,
लाडनूं—३४१३०६।

ABHAY KI KHOJ

Yuvacharya Mahaprajna

Rs 4.00

अनुक्रम

अभयदान

'णमोत्थु णं अभयदयाणं'—मैं अभय देने वाले तीर्थंकरो को नमस्कार करता हूं।

नमस्कार सूत्र मे, शक्रस्तुति के प्रसग मे, तीर्थंकरो को नमस्कार किया गया है। नमस्कार इसलिए किया गया है कि वे अभय का दान करते हैं, प्राणी मात्र को अभय देते हैं। किसी को भयभीत नही बनाते। स्वय डरना या दूसरो को डराना, स्वय भय की अनुभूति करना और दूसरो को भय का अनुभव कराना—दोनो भौतिकवादी प्रक्रियाए है। दोनो अध्यात्म के प्रतिकूल आचरण हैं।

हम धर्म की चर्चा करते है, अध्यात्म की चर्चा करते हैं, किन्तु धर्म या अध्यात्म की अन्तरात्मा का अनुभव नही करते। कोई भी व्यक्ति अभय बने बिना आध्यात्मिक नही हो सकता। भय और भौतिकवाद दोनो पर्यायवाची है। अभय और अध्यात्मवाद दोनो पर्याय-वाची है। अपने आपको अध्यात्मवादी मानने वाला डरता है तो वह बाहर से अध्यात्मवादी है और अन्त.करण मे भौतिकवादी। जो व्यक्ति अभय है, डरता नही, वह अपने आपको भौतिकवादी मानता हुआ भी सही अर्थ मे अध्यात्मवादी है।

भय हमारे शरीर-दर्शन के साथ जुडा हुआ है। दर्शन के दो कोण है—शरीर-दर्शन और शरीरातीत दर्शन। जो शरीर को देखता है, वह भय की सृष्टि करता है। भय उसी व्यक्ति मे पैदा होता है जो शरीर को देखता है। सारे भयो का मूल कारण है—शरीर-दर्शन। जिसकी दृष्टि शरीर से परे नही जाती, शरीरातीत नही होती, वह

अभय का अर्थ समझ नही सकता ।

सारी मूर्च्छा पैदा होती है शरीर से और मूर्च्छा ही भय का मूल कारण है । मूर्च्छा है, तो भय है । यदि मूर्च्छा नही है तो भय नही है ।

मनोविज्ञान की दृष्टि से संवेगात्मक व्यवहार और संवेगात्मक अनुभव—ये दोनो हाइपोथैलेमस से पैदा होते है । ये दोनो इमोशनल हैं । हमारे शरीर मे ऐसे केन्द्र हैं जहा से नानाप्रकार की प्रवृत्तियो का संचालन होता है । संवेग का संचालन शरीर से होता है । सारे संवेग हाइपोथैलेमस मे पैदा होते है । भय का भी यही स्थान है ।

कर्मशास्त्रीय कारण है कि मूर्च्छा है, मोह है इसलिए भय पैदा होता है । मूर्च्छा की अनेक प्रकृतियो मे एक प्रकृति है—भय । मोह के कारण ही मनुष्य यथार्थ को नही समझ सकता । सचाई को न समझ सकने के कारण वह जाने-अनजाने भय की स्थिति मे चला जाता है । उसे लगता है कि यदि शरीर छूट गया तो सब कुछ छूट गया । शरीर चला गया तो सब कुछ चला गया । उसका आदि दर्शन है शरीर, मध्य दर्शन है शरीर और अन्त दर्शन है शरीर । शरीर के अतिरिक्त उसका कोई दर्शन ही नही है । शरीर के प्रति जब इतनी प्रगाढ आस्था होती है तब भय पैदा होना स्वाभाविक है ।

वर्तमान की दुनिया मे, विशेषत. वर्तमान की विकासशील दुनिया मे एक आन्दोलन चल रहा है—'गरीबी हटाओ ।' यह बहुत सुनने मे और अच्छा लगता है । थोड़े गहरे मे उतर कर देखें तो पता लगेगा कि यह आन्दोलन गरीबी की समस्या को उलझाने वाला आन्दोलन है । 'गरीबी हटाओ' इस आन्दोलन मे आज तक गरीबी नही मिटी । रोटी की समस्या है, रोटी दो । बात बहुत अच्छी लगती है, किन्तु यह आन्दोलन भी रोटी की समस्या को समाहित करने वाला नही, उसे उभारने वाला ही है । इस आन्दोलन मे न रोटी मिली है और न

मिलने वाली ही है। बहुत बार ऐसा होता है कि आदमी समग्र को नही पकडता, एक खड को पकड कर उलझ जाता है। अखंड की प्रक्रिया मे खड स्वय उपलब्ध होता है और खड की प्रक्रिया मे खंड स्वय खडित हो जाता है।

अदालत मे चोरी का केस चल रहा था। चोर के वकील ने अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा—'जज महोदय! चोरी तो हाथ ने की है, इसलिए समूचे शरीर को क्यो दड दिया जाये? दंड उसी को दिया जाये जिसने चोरी की है। इसलिए दड का भागी हाथ है न कि शरीर।' न्यायाधीश को यह तर्क अच्छा लगा। उसने अपना निर्णय सुनाते हुए कहा—"मै वकील के इस तर्क को स्वीकार करता हूं और हाथ को ही दड देना चाहता हू। जिस हाथ ने चोरी की है, उसे दस वर्ष के सश्रम कारावास की सजा भुगतनी पडेगी।"

न्यायाधीश भी खड की प्रक्रिया मे वह गया। उसने अखंड को भुलाकर खड के तर्क को स्वीकार कर लिया और उसी के आधार पर निर्णय दिया।

तत्काल चोर आगे आया और बोला—'मैं न्यायप्रिय न्यायाधीश के निर्णय को सहर्ष स्वीकार करता हू। मेरे बाए हाथ ने चोरी की थी। उसे सजा मिलनी ही चाहिए।' यह कहकर चोर ने अपना कृत्रिम हाथ, जो लकडी से बना था, निकाल कर जज की टेबल पर रख दिया। सब देखते रह गए। जज स्वय अवाक् रह गया।

जब हम खड मे उलझ जाते है, समग्रता को भुला देते हैं, वहा निर्णय गलत हो जाता है। हाथ ने चोरी की, दड हाथ को ही मिलना चाहिए—यह तर्क सुनने मे बहुत अच्छा लगता है, पर सही नही है। यहा अखड की विस्मृति कर खड मे उलझना पडता है।

ऐसा ही नारा या तर्क है—'गरीबी हटाओ।' चेतना नही जागेगी तो गरीबी मिटेगी कैसे? इतना प्रयत्न करने पर भी जब

अभय का अर्थ समझ नही सकता।

सारी मूर्च्छा पैदा होती है शरीर से और मूर्च्छा ही भय का ल कारण है। मूर्च्छा है, तो भय है। यदि मूर्च्छा नही है तो भय नही है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से सवेगात्मक व्यवहार और सवेगात्मक अनुभव—ये दोनो हाइपोथैलेमस से पैदा होते है। ये दोनो इमोशनल हैं। हमारे शरीर मे ऐसे केन्द्र है जहा से नानाप्रकार की प्रवृत्तियो का संचालन होता है। सवेग का सचालन शरीर से होता है। सारे सवेग हाइपोथैलेमस मे पैदा होते है। भय का भी यही स्थान है।

कर्मशास्त्रीय कारण है कि मूर्च्छा है, मोह है इसलिए भय पैदा होता है। मूर्च्छा की अनेक प्रकृतियो मे एक प्रकृति है—भय। मोह के कारण ही मनुष्य यथार्थ को नही समझ सकता। सचाई को न समझ सकने के कारण वह जाने-अनजाने भय की स्थिति मे चला जाता है। उसे लगता है कि यदि शरीर छूट गया तो सब कुछ छूट गया। शरीर चला गया तो सब कुछ चला गया। उसका आदि दर्शन है शरीर, मध्य दर्शन है शरीर और अन्त दर्शन है शरीर। शरीर के अतिरिक्त उसका कोई दर्शन ही नही है। शरीर के प्रति जब इतनी प्रगाढ आस्था होती है तब भय पैदा होना स्वाभाविक है।

वर्तमान की दुनिया मे, विशेषत' वर्तमान की चितनशील दुनिया मे एक आन्दोलन चल रहा है—'गरीबी हटाओ।' यह बहुत सुनहला और अच्छा लगता है। थोडे गहरे मे उतर कर देखे तो पता लगेगा कि यह आन्दोलन गरीबी की समस्या को उलझाने वाला आन्दोलन है। 'गरीबी हटाओ' इस आन्दोलन से आज तक गरीबी नही मिटी। रोटी की समस्या है, रोटी दो। बात बहुत अच्छी लगती है, किन्तु यह आन्दोलन भी रोटी की समस्या को समाहित करने वाला नही, उसे उभारने वाला ही है। इस आन्दोलन से न रोटी मिली है और न

मिलने वाली ही है। बहुत वार ऐसा होता है कि आदमी समग्र को नही पकडता, एक खड को पकड कर उलझ जाता है। अखंड की प्रक्रिया मे खंड स्वय उपलब्ध होता है और खड की प्रक्रिया में खड स्वय खडित हो जाता है।

अदालत मे चोरी का केस चल रहा था। चोर के वकील ने अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा—'जज महोदय! चोरी तो हाथ ने की है, इसलिए समूचे शरीर को क्यो दड दिया जाये? दंड उसी को दिया जाये जिसने चोरी की है। इसलिए दड का भागी हाथ है न कि शरीर।' न्यायाधीश को यह तर्क अच्छा लगा। उसने अपना निर्णय सुनाते हुए कहा—"मैं वकील के इस तर्क को स्वीकार करता हूं और हाथ को ही दड देना चाहता हू। जिस हाथ ने चोरी की है, उसे दस वर्ष के सश्रम कारावास की सजा भुगतनी पडेगी।"

न्यायाधीश भी खड की प्रक्रिया मे वह गया। उसने अखंड को भुलाकर खड के तर्क को स्वीकार कर लिया और उसी के आधार पर निर्णय दिया।

तत्काल चोर आगे आया और बोला—'मैं न्यायप्रिय न्यायाधीश के निर्णय को सहर्ष स्वीकार करता हू। मेरे वाए हाथ ने चोरी की थी। उसे सजा मिलनी ही चाहिए।' यह कहकर चोर ने अपना कृत्रिम हाथ, जो लकडी से वना था, निकाल कर जज की टेवल पर रख दिया। सव देखते रह गए। जज स्वय अवाक् रह गया।

जव हम खड मे उलझ जाते है, समग्रता को भुला देते हैं, वहा निर्णय गलत हो जाता है। हाथ ने चोरी की, दड हाथ को ही मिलना चाहिए—यह तर्क सुनने मे वहुत अच्छा लगता है, पर सही नही है। यहा अखड की विस्मृति कर खड मे उलझना पडता है।

ऐसा ही नारा या तर्क है—'गरीवी हटाओ।' चेतना नही जागेगी तो गरीवी मिटेगी कैसे? इतना प्रयत्न करने पर भी जव

गरीबी नही मिट रही है, इतना प्रयत्न करने पर भी जब रोटी की समस्या नही सुलझ रही है तो इसका भी कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। इसका स्पष्ट कारण यह है कि हम खंड मे उलझ गए, अखड को भुला दिया। इस स्थिति मे न गरीबी मिटने वाली है और न भूख मिटने वाली है।

चेतना एक और अखण्ड है। चेतना के द्वारा ही ये सारी प्रवृत्तियां सचालित होती है। गरीबी का निर्माण भी चेतना के किसी कोण से हो रहा है तो गरीबी की समस्या का समाधान भी चेतना के किसी कोण से ही निकलेगा। हम मूल बात को भुला कर केवल बाहर से सामने आने वाली समस्या को ही सुलझाने का प्रयत्न करे तो मूल सरस्या का समाधान नही होगा। वह वैसे की वैसी बनी रहेगी। आज सबसे बड़ी समस्या है चेतना को जगाने की। चेतना को जगाने वाले आन्दोलन बहुत मद गति से चलते हैं, उनका स्वर कही सुनाई ही नही देता, किन्तु गरीबी और रोटी की समस्या को सुलझाने वाले आन्दोलन बडी तीव्र गति से चलते हैं और अपनी नारे बाजी से सारे आकाश को गुञ्जा देते है, पर होता कुछ भी नही।

जिन लोगो ने रोटी की समस्या को सुलझने के लिए जीवन प्रणालियो का परिवर्तन किया है, फिर चाहे वह समाजवादी प्रणाली हो या साम्यवादी प्रणाली हो, प्रथम दर्शन मे लगता है कि रोटी की समस्या सुलझ गई है किन्तु जब भीतर में प्रवेश करते हैं तो ऐसा अनुभव होता है कि रोटी की समस्या और अधिक उलझ गई है। आदमी रोटी खाते हुए भी अनुभव नही कर रहा है कि वह रोटी खा रहा है। उसे केवल यांत्रिक चेतना का-सा अनुभव हो रहा है। ऐसा लगता है कि संवेगात्मक व्यवहार मद पड़ गए हैं।

जो व्यक्ति शराब पीता है, उसके सवेगात्मक व्यवहार मद पड जाते है। शरीर लडखडाने लग जाता है। उसके सारे सेसरी सेंटर (sensory

centre) निष्क्रिय हो जाते हैं। उसकी सारी सक्रियता समाप्त हो जाती है। जब तक शराब का नशा बना रहता है, प्रभाव बना रहता है तब तक सक्रियता नही रहती या मंद पड जाती है। चेतना की सक्रियता को मद करने वाली जितनी समाधान की प्रक्रियाए हैं, वे शायद एक बार आदमी को प्रलोभन मे डाल देती हैं, किन्तु अन्त तक उनका कोई प्रभाव होता दिखाई नही देता। ऐसी स्थिति मे चारो ओर भय का सृजन होता है और समूचे वातावरण मे भय ही भय दीखने लगता है।

भय एक सवेग है। मनोविज्ञान की भाषा मे पलायन एक प्रवृत्ति है और उसका संवेग है भय। आदमी डरता है तो पलायन करता है। पलायन और भय—दोनो जुडे हुए है। भय का सीधा काम है पलायन करना। जब भय की स्थिति पैदा होती है तब आदमी दौडना चाहता है, बचना चाहता है। कभी-कभी नीद की अवस्था मे भी आदमी किसी स्वप्न के कारण डरता है और तब उठकर भागने लग जाता है।

मुझे अपनी बात याद आ रही है। मेरी अवस्था छोटी थी। मैं मुनि बन चुका था। एक दिन मैं रात को बैठे-बैठे नीद ले रहा था। दीवार का सहारा ले रखा था। अचानक एक मुनि आए, मुझे जगाया। मैं डर गया और वहा से दौडकर आगन मे आ रुका। जानते हुए या जागृत अवस्था मे नही दौडा, नीद मे ही दौड पडा।

नीद मे भी आदमी डरता है और उस भय से बच निकलना चाहता है। भय की स्थिति मे रहना कभी नही चाहता। वह भय से पार चला जाना चाहता है। यह स्वाभाविक है। यही कारण है कि बहुत बार सुनते-पढते है कि अमुक का लडका या भाई घर से पलायन कर गया, अमुक की स्त्री या पति भाग गया। इस पलायन के पीछे भय ही मुख्य कारण बनता है, फिर चाहे वह भय मान-प्रतिष्ठा का हो या धन-दौलत का या प्रेम परीक्षा का हो।

पलायन करना स्वाभाविक प्रवृत्ति है । कुत्ते को देख कर आदमी दौडता है और आदमी को देख कर कुत्ता दौडता है । दोनो दौडते है । वह इससे और यह उससे डरता है । दोनो एक दूसरे से डरते है । कुत्ता इसलिए काटता है कि वह आदमी से डरता है और आदमी इस लिए दौडता है कि वह कुत्ते से डरता है ।

भय का काम है पलायन कर जाना । भय के समय मे कुछ विशेष प्रकार की प्रतिक्रियाए होती है । भय के प्रतिरोध के लिए अधिक शक्ति जरूरी होती है । जिस समय भय का सवेग जागृत होता है उस समय एड्रीनल बहुत सक्रिय हो जाता है । अधिक शक्ति चाहिए । एड्रीनल का स्राव अतिरिक्त नही होता है तो शक्ति नही होती । जैसे-जैसे भय का सवेग बढ़ता है, एड्रीनल का स्राव भी बढता है, उससे शक्ति बढती है और तब दौड़ने की, प्रतिरोध करने की क्षमता आ जाती है । यह अनुभूत तथ्य है कि भय की स्थिति मे जितनी अपनी शक्ति होती है, सामान्य अवस्था मे उतनी शक्ति नही होती । एक डरा हुआ आदमी जितनी शक्ति का प्रदर्शन कर सकता है, सामान्य अवस्था मे नही कर पाता । कुछ व्यक्ति डर जाते है । कभी-कभी डर गहरा पैठ जाता है । उस समय उनमे विचित्र शक्ति जाग जाती है ।

एक व्यक्ति बैठा था । रात का समय । अधेरा गहरा हो रहा था । वह नीद लेने लगा । अचानक डर लगा । डर का आघात हुआ मस्तिष्क पर । दौरा पड़ गया । वह कहने लगा—'देखो, देखो, उस कोने मे भूत खड़ा है, इस कोने मे भी भूत है । वे सब मेरी ओर आ रहे है ।' दूसरो ने समझाया—'कुछ नही है । शात रहो ।' वह समझा नही । उसी प्रकार भूत दीखने की बात करता रहा । उसका हाथ पकड़ कर उठाने का प्रयत्न किया गया । किन्तु उस समय उसके शरीर मे इतनी शक्ति आ गई थी कि दस आदमी भी उसे उठाने मे असमर्थ थे ।

यह शक्ति कहा से आई ? न वहा कोई भूत था और न प्रेत। कुछ भी नही था। उस व्यक्ति का एड्रीनल ग्लैंड इतना सक्रिय हो गया कि उसका अतिरिक्त स्राव हुआ और उस व्यक्ति की शक्ति बढ गई। इतनी बढी कि वह दस व्यक्तियो के वश मे भी नही रहा। जब व्यक्ति हिस्टीरिया की बीमारी से ग्रस्त होता है और जब उसे दौरा पडता है तब उसमे अत्यधिक शक्ति आ जाती है और उसे देखकर लोग मान बैठते है कि यह सारा कार्य किसी अदृश्य छाया का है। कोई भूत या प्रेत शरीर मे आविष्ट हुआ है, अन्यथा इतनी शक्ति नही होती। यथार्थ मे न कोई छाया पडी है और न कोई भूत लगा है। यह सारा चमत्कार एड्रीनल के स्राव का है। एड्रीनल बहुत बडी छाया है, भूत है, बहुत बडा प्रेत है। जब तक एड्रीनल नियन्त्रण मे रहता है तब तक ठीक-ठीक काम देता है और जब वह नियन्त्रण से बाहर हो जाता है तब अतिरिक्त स्राव करने लगता है और तब वह भूत का काम करता है। प्रारम्भ मे उस अतिरिक्त सुख से जितनी शक्ति का अनुभव होता है, बाद मे उतनी ही अधिक शिथिलता आती है। एड्रीनल सक्रिय होता है तब तक शक्ति का अनुभव होता है और जब वह निष्क्रिय होता है तब व्यक्ति निढाल हो जाता है, सुस्त हो जाता है।

भय उत्पन्न होने के चार मुख्य कारण हैं—

१ प्राकृतिक नियमो को न जानने के कारण।

२ शरीर के नियमो को न जानने के कारण।

३ मन के नियमो को न जानने के कारण।

४ चेतना के नियमो को न जानने के कारण।

जिस व्यक्ति ने प्रकृति के, शरीर के, मन के और चेतना के नियमो को जानने का प्रयत्न किया है, वह भय से मुक्त हुआ है। जो व्यक्ति इन जागतिक नियमो को नही जान पाता, वह हर बात से

डर जाता है। बच्चा जितना डरता है, बड़ा नही डरता और वह इसलिए नही डरता कि वह अनेक नियमो को जानता है। उसका भय कम हो जाता है।

ध्यान का प्रयोग इन नियमो को जानने का अच्छा माध्यम है। प्रेक्षाध्यान से हम शरीर के, मन के और चेतना के नियमो को जान लेते है। यह नियमों को जानने की प्रक्रिया है। हम शरीर मे ही न उलझे। शरीर के नियमो के बारे मे भी हमारी जानकारी बहुत कम है।

आज के वैज्ञानिकों को मै बहुत महत्त्व देता हूं, क्योकि उनकी खोजो के द्वारा शरीर और मन के जटिल नियमो की व्याख्या हुई है। प्राचीन ग्रथो मे इतनी विशद् व्याख्या प्राप्त नही है। शरीर के एक-एक कण के विषय मे जितनी स्पष्ट अवधारणा आज हमे प्राप्त है, वैसी पहले कभी नही हुई थी। जिसकी जो विशेषता है उसे हमे सहर्ष स्वीकार करना चाहिए।

मै भौतिकवाद और अध्यात्मवाद को भिन्न कोण से देखता हू। उनको परम्परागत दृष्टि से देखना न्यायसगत नही होगा। प्रश्न पूछा जाता है कि आत्मा को मानते है या नही मानते? ईश्वर को मानते है या नही मानते? मैं न इन प्रश्नो को पूछना चाहता हू और न इन प्रश्नो के उत्तर देने मे ही मुझे रस है। मैं तो यह प्रश्न पूछना चाहता हूं कि आप शरीर को मानते है या नही मानते? शरीर को जानते हैं या नही जानते? आत्मा को मानने-जानने की वात को छोड दे। ईश्वर को मानने-जानने की वात को छोड़ दें। आप सवसे पहले शरीर को जानने-मानने का प्रयत्न करे। जव तक आपने शरीर को नही जाना, आप आत्मा को कैसे जान पाएगे? आपने जव तक शरीर को ही नही जाना, आप कैसे जान पाएगे ईश्वर और परमात्मा को? हमारी कुछ बधी-वधाई परिभाषाए हैं। हमने शव्दो को इस प्रकार रट लिया, पकड

लिया कि हम स्वय उलझते है और दूसरो को भी उलझाते हैं। मैं पूछना चाहता हू कि क्या आपके पास कोई शक्ति है जिससे आप आत्मा को जान सके ? क्या आप इन इद्रियो के द्वारा ही आत्मा को, ईश्वर और परमात्मा को जानना चाहते है ? आपके पास साधन कहा है ? आप बहुत गरीब स्थिति मे जी रहे है। इतनी दयनीय स्थिति है कि आदमी के पास साधन तो बहुत कमजोर है और वह आकाशीय उडान भरना चाहता है। कमजोर साधनो से ऊची उडान नही भरी जा सकती। पहले हमारे साधन मजबूत होने चाहिए। पैरो मे ताकत तो है नही जमीन पर चलने की और हिमालय पर चढना चाहते हैं। हमारी इन्द्रिया, जिनके आधार पर हम हमारी ज्ञानात्मक प्रवृत्तियो का संचालन करते है, कितना कमजोर साधन है! हम आत्मा या ईश्वर के बारे मे जानते है या तो पुराने ग्रन्थो के आधार पर या आपस मे चर्चा करके, तर्क-वितर्क करके। ये दो ही तो साधन है—शास्त्र या तर्क। जिस ग्रन्थकार ने लिखा, उसकी गहराई मे पहुचे बिना कैसे कहा जा सकता है कि वह सचाई है ? सचाई को मापने का कोई साधन ही नही है। दूसरी बात है कि सभी ग्रन्थकार एकमत नही है। एक कहता है आत्मा है, दूसरा कहता है आत्मा नही है। एक कहता है ईश्वर है, दूसरा कहता है ईश्वर नही है। एकरूपता नही है, एक वाक्यता नही है। इस स्थिति मे कैसे प्रमाणित किया जा सकता है कि अमुक ग्रन्थ सही है और अमुक ग्रन्थ सही नही है। क्या कोई सबल साधन है ? आदमी के पास एक मात्र साधन है तर्क। तर्क का आधार क्या है ? इन्द्रियो के द्वारा विषयो का सग्रहण होता है । मन के द्वारा व्याप्ति बनती है, व्याप्ति और प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर अनुमान और तर्क का महल खडा किया जाता है। इतना कमजोर है हमारा आधार, हमारा साधन, कि एक तर्क दूसरे तर्क को काट देता है । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्ति स्वय अपने ही तर्कों को काटता

चला जाता हूं । आज एक तर्क प्रस्तुत करता ह तो कल दूसरा तर्क सामने ला देता है । आखिर यह माना हुआ ही तो है । जब तक हमने साक्षात्कार नही किया, प्रयत्न नही किया, किसी मान्यता के आधार पर किसी प्रासाद को खड़ा कर दिया तो वह निर्माण केवल बालू की नीव पर किया हुआ निर्माण होगा, उसका कोई अस्तित्व नही होगा ।

तर्क पुष्ट आधार नही बनता । पुष्ट आधार बनता है—प्रेक्षा, दर्शन । प्रेक्षा एक मार्ग है साक्षात्कार का । साक्षात्कार पर कोई तर्क प्रस्तुत नही किया जा सकता । प्रेक्षा है—जानो और देखो । इसमे कोई मान्यता नही, कोई तर्क नही, कोई हाइपोथिसिस नही, कोई विकल्प नहीं, केवल जानना, केवल देखना । जितना जाना-देखा है वह सही है । नही जाना वह शेष अनन्त है । सही और शेष उसे जानना-देखना है । आचार्य भिक्षु ने कहा था—'मन मे जिज्ञासा या सन्देह उभरे, उसका समाधान कर लो । दूसरो को पूछो और वे जो कहे उसे समझने का प्रयत्न करो । बुद्धिगम्य हो तो स्वीकार कर लो और यदि बुद्धि मे न पैठे तो उसे यह समझ कर छोड दो कि यह बात अभी मेरी समझ से परे है । मेरे गले नही उतर रही है । मेरी बुद्धि मे नही समा रही है । पर मैं कोई सत्य का ठेकेदार नही हूं । 'मैं सोचता हू वही सही है'—यह ठेकेदारी सत्य के जगत् मे नही चलती । छोड दो उस बात को । आग्रह मत करो । यह कहो, मेरी छोटी बुद्धि मे तुम्हारी बात नही समा रही है । तुम कहते हो वह ठीक हो सकता है, पर अभी मैं उसे स्वीकार नही कर सकता ।' यह ऋजु मार्ग है ।

हम सही मार्ग को स्वीकार करें । सही मार्ग है शरीर को जानना, शरीर के नियमो को जानना, मूर्च्छा के नियमो को जानना । मूर्च्छा के दो माध्यम है—कर्म-शास्त्रीय भाषा मे सूक्ष्म शरीर और शरीर-शास्त्रीय भाषा मे ग्रन्थियां, ग्रन्थितत्र । सूक्ष्म शरीर मे ऐसे संस्कार एकत्रित है, मूर्च्छा के इतने परमाणु संकलित है, इतने घने परमाणु है कि

जव-जव वे सक्रिय होते हैं, तव-तव सवेग की विभिन्न अवस्थाए निर्मित होती है। कभी क्रोध, कभी अहकार, कभी वासना और कभी घृणा का भाव, कभी ईर्ष्या और आसक्ति का भाव, कभी अप्रियता और भय का भाव—ये रूप निर्मित होते हैं। ये सारे मूर्च्छा, सवेग और आवेग हैं। ये सारे इमोशनल व्यवहार हैं। ये सवेदात्मक व्यवहार पैदा होते रहते है, उनका हमे अनुभव होता रहता है। यह है कर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण।

शरीरशास्त्रीय दृष्टिकोण यह है—वाह्य निमित्तो और उद्दीपनो की स्थिति मे शरीर मे जो प्रतिक्रियाए होती हैं, उनसे संवेग जागते है। कभी भय का, कभी क्रोध का, तो कभी लडने का।

हमे समझना है स्थूल शरीर को और सूक्ष्म शरीर को। इन दोनो शरीरो को समझे विना आत्मा को समझने की वात हास्यास्पद लगती है। मै नही कहता आप आत्मा या परमात्मा को न माने, किन्तु मै तो यह कहना चाहता हूं कि आप मानने तक ही सीमित न रहें, उससे आगे जानने की सीमा मे भी प्रवेश करें। मानने की वात वचपन की वात हो सकती है। सदा वचपन मे ही जीना सार्थक नही कहा जा सकता। वच्चा यदि सदा-सदा के लिए वच्चा ही वना रहे, कभी युवा या प्रौढ न वने, तो कैसा लगेगा ? वच्चा मा की वात मानता है, पिता और भाई की वात को मानता है, वडे-वूढो की वात को मानता है, किन्तु जव वह वडा हो जाता है तव मानना कम हो जाता है और जानने की प्रवृत्ति प्रवल हो जाती है। मानना पीछे छूट जाता है, जानना आगे आ जाता है।

दर्शन और धर्म के क्षेत्र मे भी ऐसा ही होना चाहिए। किन्तु आश्चर्य है कि ऐसा नही हो रहा है। इस क्षेत्र के आदमी भी मानने मे ही अधिक विश्वास करते हैं, जानने का प्रयत्न कम करते हैं। लगता है कि जीवन भर वे मानते ही चले जाएगे। यह कैसा वचकानापन !

इससे होगा क्या ? आदमी को मानने की भूमिका से हट कर जानने की भूमिका मे आना चाहिए।

प्रेक्षा का प्रयोग जानने का प्रयोग है, मानने का नही। सबसे पहले शरीर के नियमो को जाने। स्थूल शरीर के नियमो को जान लेने के बाद, सूक्ष्म शरीर के नियमो को जाने। इसलिए साधक को एनोटॉमी का भी सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। कर्म-सिद्धान्त का भी अध्ययन करना चाहिए। सूक्ष्म शरीर की सरचना और उसके घटको को भी जानना चाहिए। जब हम स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर के नियमो को जान लेगे, जब हम कर्म-सिद्धान्त को जान लेगे, तब उस भूमिका मे एक सही जिज्ञासा पैदा होगी। तब हमारे मन मे प्रश्न उभरेगा—क्या आत्मा है ? क्या शरीर से परे भी कोई तत्त्व है ? क्या परमात्मा का अस्तित्व है ? यह वास्तविक जिज्ञासा होगी और अनेक जिज्ञासाओ का द्वार खुलेगा। इससे पूर्व द्वार खुलता नहीं, द्वार बन्द होता जाता है। 'मानने' का परिणाम है द्वार को बद करना। मानने से छुटकारा तो शीघ्र हो जाता है। मैंने कहा और आपने मान लिया। इससे हुआ क्या ? परिणाम तो शून्य ही रहा। जानने के लिए हजारो वर्ष बिताने पडते है। सीधा रास्ता है मानना और टेढा-मेढा रास्ता है जानना। जानने के लिए बहुत श्रम और तपस्या करनी पड़ती है, खपना पडता है, तपना पडता है और जपना पड़ता है। मानने के लिए श्रम नही करना पडता, कोई तपस्या नही करनी पडती। न खपना पड़ता है न तपना और जपना पड़ता है। कहा और मान लिया। करना-धरना कुछ भी नहीं है। मानने वाले वहीं अटक गए, किन्तु जिन लोगो ने जानने का प्रयत्न किया, उन्होने दुनिया को बहुत बड़ा अवदान दिया है। पर इस कठिनाई को भी मैं जानता हूं कि जानने वाले हजारो-लाखो व्यक्तियो के लिए भ्रम भी पैदा कर जाते है। क्योकि जो जानने वाले होते है,

उनको मानने वाले भी हजारो लोग मिल जाते हैं, यह भी एक कठिनाई है। एक जानने वाला होता है, पर उसको मानने वाले लाखो लोग हो जाते हैं। केन्द्र छोटा होता है, परन्तु परिधि वहुत वडी वन जाती है। सारी कठिनाइया परिधि मे ही पैदा होती है, केन्द्र मे नही। यदि सारे के सारे जानने वाले हो तो कोई कठिनाई नही होती।

महावीर ने कहा—सारी वाधाए और विघ्न उस व्यक्ति के सामने वार-वार उपस्थित होते है जो ज्ञाता और द्रष्टा नही है। जो स्वय नही जानता और स्वय नही देखता वह इन विघ्नो से आक्रान्त होता है। अपने ज्ञान मे जो स्वय नही जानता, अपनी आंखो से जो स्वय नही देखता, उस व्यक्ति को पग-पग पर वाधाओ का सामना करना पडता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जानने और देखने का प्रसग आता है, ज्ञाता और द्रष्टाभाव का प्रसग आता है, पर आदमी जानवूझ कर आखे मूद लेता है, दृष्टि को समाप्त कर देता है और तव वह विघ्नो से घिर जाता है। हमारा प्रयत्न हो कि हम स्वय जाने, देखे। इस प्रयत्न मे शरीरातीत स्थिति का अनुभव करना होगा।

साधना का परम सूत्र है—शरीरातीत स्थिति का अनुभव। शरीर-दर्शन को एक वार छोडना पडता है। शरीर-दर्शन के साथ दो वाते जुडी हुई होती हैं। एक है—जीवन और दूसरी है—मृत्यु। दोनो साथ जुडे हुए है। जव हम जीवन को देखते है तव आसक्ति पैदा होती है और जव मौत को देखते है तो भय पैदा होता है। मूर्च्छा के ये दोनो पहलू—आसक्ति और भय—शरीर से जुडे हुए है। शरीर को वनाए रखते है तो आसक्ति पैदा होती है। हम नही चाहते कि शरीर छूट जाए। शरीर के छूटने से भय पैदा होता है। भय है ही क्या? उत्तराध्ययन सूत्र का एक प्रसग है। राजा सप्रति शिकार करने गया।

सामने हिरण आया। बाण छोडा। वह मर गया। राजा हिरण के पास गया। इधर-उधर देखा। उसकी दृष्टि एक वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग की मुद्रा मे स्थित एक मुनि पर पडी। मुनि को देखते ही राजा भयभीत हो गया। उसने सोचा—अन्याय हो गया। लगता है कि यह हिरण साधु का था। मैंने इसे मार डाला। साधु क्या कहेगा? यह तपस्वी है। यदि क्रुद्ध होकर मुझे शाप दे देगा तो मै मारा जाऊंगा।

मारने वाला भी मौत से वहुत घवडाता है, डरता है। मारने वाला भी मरना नही चाहता, वहुत भयभीत रहता है। वह वहुत सारे लोगो को मारता है, पर मरने के भय से अपनी सघन सुरक्षा की व्यवस्था करता है। भय इतना घनीभूत हो जाता है कि वह अपनी सुरक्षा के लिए हजारो व्यक्तियो को लगाता है। मरने वाले से मारने वाला अधिक डरता है।

राजा भयभीत हो गया। घोडे से उतरा और मुनि के चरणो मे जा गिरा। मुनि ने कायोत्सर्ग पूरा किया। राजा ने हाथ जोडकर कहा—'महाराज! क्षमा करे। मुझे पता ही नही था कि यह हिरण आपका है। अनजान मे मैंने इसको मार डाला। अव आप मुझे क्षमादान दे।'

मुनि शान्त थे। गभीर थे। उन्होने मृदु स्वरो मे कहा—

'अभओ पत्थिवा तुब्भं, अभयदाया भवाहि य।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि? ॥'

'राजन्! मैं तुम्हे अभयदान देता हू, किन्तु इस दान का स्वीकार करने की क्षमता होनी चाहिए। यह क्षमता तव जागेगी जव तुम स्वयं अभयदान देने लग जाओगे। सव तुमसे भयभीत है। यह मत समझो कि एक हिरण ही तुमसे डरा है, सारा ससार तुमसे डर रहा है। तुम भी अभय देना सीखो। तुम दूसरो को अभय का दान

करोगे तो मेरा अभय का दान तुमको प्राप्त होगा। राजन् ! मैं नही समझ पाया कि इस अनित्य जीवन के लिए तुम इतनी हिंसा क्यो कर रहे हो ? क्या तुम शाश्वत हो ? क्या तुम अमर रहोगे ? क्या तुम नही मरोगे ? सोचो और समझो। कोई शाश्वत और अमर रहने वाला नही है फिर तुम क्यो इतनी हिंसा करते हो ?'

अभय का दान वही व्यक्ति दे सकता है जिसने स्वयं अभय प्राप्त किया है और जिसमे से अभय की तरगे निकलती है। वे तरगे आसपास के सारे वातावरण मे अभय का विकिरण करती हैं। वही व्यक्ति अभय हो सकता है, जो अभय का दान करता है। वही व्यक्ति अभय का दान कर सकता है, जो अभय होता हे।

भय वहुत वडा सवेग है। इससे छुटकारा पाना वहुत आवश्यक है। अभय के द्वारा ही भय को समाप्त किया जा सकता है। ०

भय के स्रोत

समूचा संसार गतिशील है। सव कुछ प्रकम्पन ही प्रकम्पन है, गति ही गति है। गति का अर्थ है—स्थान-परिवर्तन। हम एक स्था मे होते है और जव गति होती है तव स्थान वदल जाता है। अचेतन और चेतन—दोनो जगत् मे गति का यह सिद्धान्त चल रहा है।

हमारा चित्त भी गतिशील है। वह भी वदलता है। वह एक स्थान मे होता है, थोड़े समय वाद दूसरे स्थान मे चला जाता है। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास इसलिए होता है कि चित्त एक स्थान पर स्थिर रह सके। चित्त वहुत गतिशील है, एक स्थान पर टिकता ही नही। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक 'ग्लैण्ड' ने अनेक परीक्षण किए और निष्कर्ष की भापा मे कहा कि ध्यान का स्थल एक मिनट मे पन्द्रह वार वदल जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि चार सेकेण्ड मे ध्यान का स्थल वदल जाता है। चार सेकेण्ड के पश्चात् अवधान का स्थल वदल जाता है। मनोवैज्ञानिक 'विलिग्ज' ने भी लगभग यही निष्कर्ष निकाला था कि १ से ५ सेकेण्ड के मध्य ध्यान का स्थल वदल जाता है। ध्यान करने वाला प्रत्येक साधक यह अनुभव करता है कि एक विपय पर चित्त लम्वे समय तक एकाग्र नही होता। किसी विपय को लेकर वैठते हैं और वह ध्यान वदल जाता है, स्थान वदल लेता है। विपय-परिवर्तन स्वाभाविक प्रक्रिया है। विचार वदलता है, विपय वदलता है, अवधान वदलता है, सव कुछ वदलता रहता है। हमारा जीवन वहुत वड़ा चल-चित्र है जितने चल-चित्र हमने देखे हैं, वे सव इसके सामने छोटे पडते है। दूसरे चलचित्र ढाई-तीन घटा के होते हैं, किन्तु जीवन का यह

चलचित्र जीवन भर चलता रहता है, क्षण-क्षण परिवर्तन होता रहता है। दृश्य का परिवर्तन होता रहता है। दृश्य का कभी अन्त नही आता।

दो व्यक्ति बातें कर रहे थे। दोनो गप्पी थे। एक ने कहा—मेरा दादा इतना बडा तैराक था कि वह अपने गाव के तालाव पर तैरने गया और तीन दिन तक, रात-दिन तैरता रहा। कितना कुशल तैराक! दूसरा वोला—बस, इतनी ही बात है। मेरे दादा की बात सुनो। वह समुद्र मे तैरने के लिए गया। उसको गए पचास वर्ष हो गए। आज तक वह घर नही आया। लगता है पचास वर्षों से निरन्तर समुद्र मे तैर रहा है। कितना निपुण तैराक है!

हमारे जीवन का यह चलचित्र भी निरन्तर हवा मे तैरता रहता है। कभी पूरा होता ही नही।

चित्त की वृत्तियो का यह चक्र भी निरन्तर गतिशील रहता है। कभी क्रोध, कभी भय, कभी वासना, कभी राग, कभी घृणा, कभी द्वेप, कभी लिप्सा, कभी महत्त्वाकाक्षा—एक के वाद दूसरी वृत्ति उभरती है और अपना पूरा चित्र प्रस्तुत करती है। इन सारी वृत्तियो मे भय का स्थान प्रमुख है। कुछ मनोवैज्ञानिको ने तीन प्राथमिक सवेग माने है—भय, क्रोध और स्नेह। ये तीनो बडे हैं और आदमी के जीवन के साथी है, सदा साथ रहने वाले है। ये ही अधिक उभरते हैं।

भय वहुत वडा सवेग है। आदमी को हर वात मे भय लगता है, भय के वाद भय, भय छूटता ही नही। कोई न कोई भय वना ही रहता है। एक भय को छोड़ने का प्रयत्न करते हैं तो दूसरा भय सामने उभर आता है।

एक आदमी को डर वहुत सताता था। वह एक समझदार आदमी के पास गया और वोला—मुझे डर वहुत लगता है। कभी भूत का, कभी प्रेत का, डर सताता ही रहता है। ऐसा कोई उपाय

बताओ कि मेरा डर छूट जाए। उसने एक उपाय किया। एक तावीज बनाकर दिया और कहा—'इसे हाथ पर बाध लो, डर नही लगेगा।' उसने तावीज को हाथ पर बाध दिया। कुछ महीने बीते। वह फिर मिला। उसने पूछा—क्या तुम्हारा भय समाप्त हो गया? अब डरते तो नही? उसने कहा, अब न भूत का डर सताता है और न प्रेत का भय सताता है। भय सारे समाप्त हो गए हैं, पर एक भय सदा बना रहता है कि कही यह तावीज गुम न हो जाए। यह डर निरन्तर बना रहता है।

एक भय मिटा तो दूसरा भय पैदा हो गया। भय को मिटाने वाले का भी भय पैदा हो गया। मनुष्य की ऐसी ही प्रकृति है कि वह उसे छोड नही सकता, क्योकि भय उसका चिर साथी है।

हमे भय के स्रोत को खोजना होगा। भय क्यो होता है? इसका मूल कारण क्या है? मूल स्रोत क्या है? हम उद्दीपक स्थितियो को जानते है, उत्तेजना की स्थितियो को हम जानते है। जब भय को उद्दीप्त करने वाली स्थिति सामने आती है, आदमी डर जाता है। तेज आवाज हुई, एक धमाका हुआ आदमी डर जाता है। बादल गरजता है आकाश मे और आदमी डर जाता है पृथ्वी पर। बिजली कौधती है आकाश मे और आदमी डर जाता है घर मे बैठा हुआ। बिजली कडकती है और आदमी के प्राण छूटने लग जाते हैं। तेज आवाज एक उद्दीपक स्थिति है भय की।

रात का समय है। दो साथी मार्ग से गुजर रहे हैं। एक साथी पीछे रुक जाता है। दूसरा अपनी ही धुन मे चला जा रहा है। उसे जब ज्ञात होता है कि मैं अकेला ही हू। साथ पीछे छूट गया है। वह डरने लग जाता है। उसके पाव कापने लग जाते हैं। अकेलापन भय को उद्दीप्त करने वाली परिस्थिति है।

ये भय को उद्दीप्त करने के कुछेक कारण हैं। ये उद्दीपन हैं,

भय के मूल स्रोत नही है। हमे खोजना होगा कि भय के मूल स्रोत क्या हैं ?

भय के चार मूल स्रोत बतलाए गए हैं—

१ सत्वहीनता ।
२ भय की मति ।
३ भय का सतत चिन्तन ।
४ भय के परमाणुओ का उत्तेजित होना ।

१. सत्वहीनता

व्यक्ति मे पराक्रम नही है, बल नही है, शक्ति नही है, सत्त्व नही है। जब शक्ति, पराक्रम और सत्त्व का अभाव होता है, तब अकारण ही भय पैदा होता है। सत्त्व अन्त करण से सबद्ध पराक्रम है। जिस व्यक्ति को अपने अस्तित्व का निरन्तर बोध होता रहता है, जिस व्यक्ति मे अपने अस्तित्व के प्रति ग्लानि या हीनता का भाव नही है, वह चेतना सत्त्व-चेतना होती है। अपने अस्तित्व का बोध होते रहना, अस्तित्व मे उभरने वाली विशेपताओ का बोध होते रहना यह सत्त्व-चेतना है। जिसमे इसका अभाव होता हे, वह दूसरो को देखते ही डर जाता है, दूसरो से प्रभावित हो जाता है। प्रभावित होना भी एक प्रकार का भय है। सत्त्व की कमी ही इसका कारण बनती है। स्वयं की दुर्वलता ही इसका कारण बनती है। इस दुनिया मे शक्ति-अशक्ति, दुर्वलता-सवलता का नाटक होता रहता है। शक्तिहीन और दुर्वल व्यक्ति की कोई सहायता नही करता। शक्तिशाली की सहायता मे अनामन्त्रित लोग आ जाते हैं। एक सस्कृत कवि ने लिखा है—"सखा भवति मारुत.।"

जब दावानल सुलगता है, आग सारे जगल को भस्मसात् करती है, तब हवा उसका सहयोग करती है। वायु की सहायता के बिना आग

फैलती नही। आग के फैलने मे वायु सखा का काम करती है। प्रश्न है—सहयोग क्यो करती है? आग और हवा मे विरोध होना चाहिए, किन्तु आग को सहयोग देती है हवा, क्योकि आग शक्तिशाली है, वह फैलने लगती है, तब हवा अनामन्त्रित ही उसे सहयोग देने आ जाती है और आग जब दुर्बल होती है, तब हवा उसे बुझाने लग जाती है। जब दीप टिमटिमाने लगता है तब हवा का झोका आता है और उसे बुझा डालता है। हवा आग को प्रज्वलित करती है, हवा आग को बुझाती है। दीप बेचारा दुर्बल था, हवा ने उसको बुझा दिया। दावानल शक्तिशाली था, हवा ने उसको सहयोग दिया और वह आग और अधिक भभक उठी।

विश्व का यह नियम है। सब शक्ति-सपन्न व्यक्ति का सहयोग करते हैं। जो स्वय सत्वहीन और शक्तिशून्य होता है, उसका कोई सहयोग नही करता, उसके मन मे सदा डर बना रहता है।

भय की उत्पत्ति का पहला स्रोत है—सत्वहीनता, शक्तिशून्यता।

२. भय की मति

जब बुद्धि मे भय समा जाता है, जब आदमी मान लेता है कि भय है, तब भय ही भय दीखता रहता है। एक मकान को 'भूतहा' घोषित कर दिया गया। लोगो ने मान लिया कि इस घर मे भूत रहते हैं, यह भूतो का निवास-स्थान है। किसी को दिखे या नही, पर मन पर भूत सवार हो जाता है। बुद्धि मे भय जम जाता है। 'भूतहा' मकान को कोई खरीदना नही चाहता, भले फिर वह कितना ही सुन्दर हो, कितना ही सस्ता मिलता हो। इसका मूल कारण है कि आदमी मे भय की बुद्धि निर्मित हो गई है। जब एक वार ऐसा होता है, तब भय पैदा होता ही रहता है।

३. भय का सतत चिन्तन

डर की बाते करना, डर के विषय मे सोचते रहना, बार-बार भय उत्पन्न करने वाला साहित्य पढना, उसी का श्रवण करना, उसी का मनन करना, उसी का निदिध्यासन करना—ये सारे भय की उत्पत्ति मे सहायक बनते हैं। अब क्या होगा ? कल क्या होगा, बुढापे मे क्या होगा ? भय की इतनी तरगें और धाराए प्रसारित होती हैं कि भय के अतिरिक्त कुछ दिखाई ही नही देता। भय का चिन्तन करने से भय पैदा होता है।

अनेक लोग ऐसे होते हैं जो भय की कहानिया सुनाने मे बहुत रस लेते है। वे कहने लगते है—मेरे पिता ने एक रात को चुडैल को देखा था। उसके पजे पीछे की ओर मुडे हुए थे। मेरे पिता ने एक दिन भूत को देखा, मेरे मित्र ने प्रेतात्मा से साक्षात्कार किया और यह भय-कर घटना घटी। ऐसी घटनाओ का अन्त ही नही आता। एक के बाद दूसरी घटना सुनाते चले जाते हैं, घटी हो या न घटी हो, यथार्थ हो या काल्पनिक हो। आख्यान या कहानी मे कल्पना की जा सकती है। यह दोष नही माना जाता। भूत-प्रेत की घटनाए सुनाने वाले सुना देते है, किन्तु सुनने वालो के लिए सोना हराम हो जाता है। रात भर करवटे बदलते रहते है, नीद आती ही नही। चारो ओर भूत ही भूत या प्रेत ही प्रेत दिखाई देने लगते है। सारा शरीर भय से काप उठता है। कभी कुछ हुआ होगा, या नही हुआ होगा, पर सुनने वाले के मन मे सारे चित्र उभरते रहते हैं।

भय की उत्पत्ति का तीसरा स्रोत है—भय का सतत चिन्तन करना, भय की बाते सुनना।

४. भय के परमाणुओ का उत्तेजित होना

भय की उत्पत्ति का यह चौथा स्रोत बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

व्यक्ति के समक्ष कोई उद्दीपक स्थिति नही है, कोई भय की स्थिति नही है, न कोई भय का चिन्तन चलता है, न भय देने वाली वार्ता ही हो रही है, न बुद्धि मे भय समाया हुआ है, कुछ भी नही है फिर भी भयवेदनीय कर्म के परमाणु सक्रिय होते ही भय लगने लग जाता है। यह बाहरी कारणो से होने वाला भय नही है। इसकी उत्पत्ति का मूल कारण है आन्तरिक। बाह्य कारणो की अपेक्षा से इसे अहेतुक या अकारणिक भय कहा जाता है। यह केवल अपने भीतर सचित भय के परमाणुओ की सक्रियता से उत्पन्न होता है। अकारण ही भय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, अकारण ही डर बरसने लग जाता है।

हम परिस्थितिवाद से बहुत परिचित हैं। बाहरी निमित्तो और परिस्थितियो को हम जानते है, किन्तु आतरिक वातावरण को नही जानते, उससे अधिक परिचित नही है।

मनोविज्ञान ने इस विषय पर अवश्य ही चिन्तन किया था कि हमारे जो ज्ञान के विषय है, वे कभी चेतन मन मे होते हैं, कभी अवचेतन मन मे होते है और कभी अचेतन मन मे होते हैं। तीनो मानसिक प्रक्रियाओ मे वे चलते रहते है। एक बात अभी चेतन मन मे है, ध्यान बदलते ही वह अवचेतन मन मे चली जाती है। हम सब अनुभव करते हैं कि एक दिन मे पचासो बातें मन मे आती है और दो मिनट बाद भुला दी जाती है। कहां चली जाती है ? अभी हम एक विषय पर बात या ध्यान कर रहे थे, दो मिनट बीता, बात का विषय बदल गया, मन दूसरे बिन्दु पर जा टिका। क्या बात समाप्त हो गयी ? नही, वह चेतन मन से उतर गयी, समाप्त नही हुई। वह भीतर मे चली गई, गहरे मे चली गई। वह अवचेतन मन मे चली गई। वह वहां अंकित हो गयी, उसका प्रतिबिबन हो गया। अवचेतन और चेतन के विषय बदलते रहते हैं। एक चक्र चलता रहता है। अवचेतन की बात चेतन मे आ जाती है और चेतन की बात पुनः अवचेतन मे चली जाती

है। यह चक्र रुकता नही। इसीलिए भूली हुई बाते भी कभी-कभी याद हो आती है। बात के याद आते ही आदमी कभी डर जाता है, कभी कुपित हो जाता है, कभी स्नेह से अभिभूत हो जाता है।

अवचेतन की बात अस्पष्ट होती है और चेतन की बात स्पष्ट होती है। जो बात चेतन मन मे उतरती है, उसका स्पष्ट अवबोध होता है और जो बात अवचेतन मन मे चली जाती है, वह अस्पष्ट हो जाती है। चेतन की बात सीमित होती है, अवचेतन मे जाकर वह फैल जाती है, बडी बन जाती है। अध्यात्म विज्ञान मे इस विषय पर सूक्ष्म पर्यालोचन किया गया था, मनोविज्ञान से भी बहुत आगे बढकर। पूरा का पूरा कर्म-सिद्धात इसी आधार पर खडा हुआ था कि चेतन मन की प्रत्येक घटना सूक्ष्म शरीर मे चली जाती है। उसका प्रकपन सूक्ष्म शरीर मे होता है।

सूक्ष्म शरीर का बहुत बडा तन्त्र है। उतना बडा तन्त्र दुनिया मे दूसरा है ही नही। ससार के सारे तन्त्रो—राज्य-तन्त्र, समाज-तन्त्र, उद्योग-तन्त्र को तुला के एक पल्ले पर रखा जाए और सूक्ष्म शरीर के तन्त्र को दूसरे पल्ले पर रखा जाए तो सूक्ष्म शरीर के तन्त्र वाला पल्ला भारी होगा। वह इतना बडा तन्त्र है कि जहा असख्य वृत्तियो के असख्य स्थान अलग-अलग बने हुए है। असख्य-असख्य वृत्तिया हैं और असख्य-असख्य स्थान है। एक विचार, एक चिन्तन और एक अध्यवसाय में असख्य गुना तारतम्य होता है। इतना बडा तारतम्य इसलिए है कि सूक्ष्म से सूक्ष्म स्पदन का अपना पूरा तन्त्र बन जाता है। कोई भी स्पन्दन या प्रकम्पन व्यर्थ नही जाता। उसके अकन होते है। वे सारे अकन भीतर पडे रहते है। भीतर मे यह इतना बडा कम्प्यूटर है कि वह प्रत्येक छोटे-बडे स्पन्दन को रिकार्ड कर लेता है और समय का परिपाक होने पर उसका फल भी प्रस्तुत कर देता है।

उस सूक्ष्म शरीर मे, कर्म-शरीर मे, सारे तन्त्रो के बीच भय का

भी एक पूरा तत्र है। मोह के परमाणु उस पर अपना अधिकार जमाए हुए हैं। वे परमाणु उद्दीपनो के आधार पर उद्दीप्त होते है और यदि कोई उद्दीपन प्राप्त नही होता है तो अपने काल का परिपाक होते ही वे उद्दीप्त हो जाते है। वे इस वात की अपेक्षा नही रखते कि उद्दीपन मिले तब ही उद्दीप्त होना है। वे उद्दीपनो के विना भी अपना काम प्रारम्भ कर देते है।

कर्म का तत्र बडा दायित्वशील है। वह अपने दायित्व के प्रति इतना जागरूक है कि इस वात की अपेक्षा नही रखता कि उद्दीपक सामग्री मिली या नही मिली, वह तो अपना काम शुरू कर देता है। विपाक होते ही वह अपना काम प्रारम्भ कर देता है। भय प्रगट हो जाता है। कई वार आदमी को यह महसूस होता है कि वह शात वैठा है, पर अचानक उदास हो जाता है। कोई परिस्थिति नही होती, पर आदमी हर्पित हो जाता है, हर्प की तरगे उठने लग जाती है। कोई अशुभ समाचार नही सुना, फिर भी आदमी का मन अचानक विपाद से भर जाता है। अकस्मात् क्रोध क्यो आ जाता है ? अकस्मात् भय क्यो उत्पन्न हो जाता है ? ऐसा अनुभव एक को नही प्रत्येक को कभी-कभी होता है और वह इसी भापा मे वोल भी पडता है—यह अकस्मात् क्यो हो गया ? कैसे हो गया ?

यह सारा होता है भय के परमाणु की सक्रियता के कारण। यह सवसे वडा स्रोत है, मूल स्रोत है। मूल स्रोतो का भी यह महास्रोत है।

हमारे भीतर मूर्च्छा के परमाणु है। मूर्च्छा एक गगोत्री है। उसकी अनेक धाराएं हैं। गगोत्री एक है, पर उसकी अनेक धाराएं जगह-जगह फैली हुई हैं। भय उसकी एक धारा है। भय की उत्पत्ति के कारण हमारे भीतर विद्यमान है। हम आंतरिक कारणो के विपय मे वहुत कम जानते हैं। हम परिस्थिति के परिवेश मे ही सव-कुछ

सोचते है। हम परिस्थितिवादी हो गए हैं। हमारी यह दृढ धारणा भी वनी हुई है कि जैसी परिस्थिति होती है, आदमी वैसा ही वन जाता है। इस धारणा मे कुछ सचाई भी है। यह पूर्ण सत्य नही है। किन्तु इस अधूरी सचाई ने पूरे मस्तिष्क पर अधिकार जमा रखा है, इसलिए आदमी इसी भाषा मे सोचता है, वोलता है कि मैं क्या करू, जैसी परिस्थिति होती है, आदमी को वैसा ही वनना पडता है। इस अवधारणा से मुक्ति पाना भी कठिन हो गया है। यह अवधारणा पूरी तरह सच नही है। पूरी सचाई तव हो जव हम दोनो वातो को मिला दे। पहली वात है—जैसी परिस्थिति होती है, आदमी वैसा ही वन जाता है। दूसरी वात है—जैसे कर्म का विपाक होता है, आदमी वैसा ही वन जाता है। इन दोनो तथ्यो को मिला देने से सचाई का वोध हो सकता है। इसके साथ तीसरी वात और जोडनी होगी। तीन वातें होगी—परिस्थिति, कर्म-सस्कार और परिणमन। ये तीनो वाते जुडती हैं तव पूरी सचाई वनती है, एक पूरा त्रिकोण वन जाता है। यह तीन आयामो मे व्यक्त होने वाली सचाई है। एक है परिस्थिति का आयाम, दूसरा है कर्म-सस्कार का आयाम और तीसरा है परिणमन का आयाम।

आत्मा मे कर्म का योग भी है और वह परिस्थिति से प्रभावित भी होती है। फिर भी आत्मा का अस्तित्व स्वतत्र वना हुआ है, वह सर्वथा दवी हुई नही है। अगर वह परिस्थिति और कर्म से सर्वथा प्रभावित हो जाए तो आत्मा अनात्मा वन जाए, उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाए। परन्तु जिसका अस्तित्व एक क्षण के लिए भी हो गया, वह कभी समाप्त नही हो सकता। अस्तित्व स्थायी होता है, ध्रुव होता है। आत्मा का अस्तित्व अपने स्वय के परिणमन के आधार पर होता है। परिणमन दो प्रकार का होता है। एक है स्वाभाविक परिणमन और दूसरा है वैभाविक परिणमन। एक है अपने अस्तित्व के

साथ चलने वाला पर्याय और दूसरा है बाहरी निमित्तो और कारणो के साथ बदलने वाला पर्याय। ये दो प्रकार के पर्याय, परिणमन या निमित्त होते है। आत्मा के अस्तित्व का जो स्वाभाविक परिणमन है, वह भी निरन्तर सक्रिय रहता है और अपने अस्तित्व को बनाए रखता है। यदि यह परिणमन समाप्त हो जाए तो अस्तित्व भी समाप्त हो सकता है। परिणमन बराबर काम कर रहा है, निरन्तर गतिशील हो रहा है कि कही अस्तित्व ही समाप्त न हो जाए। यह परिणमन अस्तित्व की बार-बार स्मृति दिला रहा है।

अधकार आता है तब भी प्रकाश बराबर बना रहता है। दोपहर का समय है। आकाश मे गहरे बादल उमड आए है। घनघोर घटा। अधकार हो गया, फिर भी 'दिन है'—इसकी विस्मृति नही होती। रात की घटा और दिन की घटा मे अतर होता है। दिन मे गहरी घटा होने पर भी दिन का बोध बना रहता है। यह नही मान लिया जाता कि अधेरा है तो रात हो गई है। दिन और रात के बीच की जो एक विभाजक रेखा है वह है हमारे अस्तित्व का परिणमन। अस्तित्व का परिणमन कभी विस्मृति नही होने देता स्वय के अस्तित्व की। "मैं चैतन्यवान् हूं", "मैं चेतन हू", "मैं अचेतन नही हू"—यह स्मृति सदा बनी रहती है। इस परिणमन के साथ-साथ कर्म का विपाक भी चलता है और परिस्थिति भी चलती है। इन तीनो का प्रतिफलन होता है—हमारा व्यक्तित्व।

भय का चौथा बड़ा स्रोत है—आतरिक कारण।

भय के चार स्रोत हैं। उनसे फलित होता है—परिस्थितिवाद, कर्मवाद और परिणमनवाद।

आदमी अधिक समय परिस्थितियो के साथ जीता है, उद्दीपनो के साथ जीता है। परिस्थितियां आदमी को बहुत बाधित करती हैं। परिणमन उसमे हस्तक्षेप नही करता। परिणमन का हस्तक्षेप वहा

होता है जहा अस्तित्व को विलीन करने की बात सामने आती है। उस स्थिति मे परिणमन बहुत सक्रिय हो जाता है, अन्यथा वह मध्यम गति से चलता है।

अधिकाश भय परिस्थितिजन्य होते हैं। एक परिस्थिति बनी, बीमारी फैली और मन मे रोग का भय व्याप गया। बुढापे को देखा और बुढापे का भय मन मे व्याप गया। घटना को देखते हैं और मन मे भय अंकुरित हो जाता है।

ताओ धर्म के प्रवर्त्तक महान् दार्शनिक लाओत्से जा रहे थे। सामने घोडे पर बैठा एक आदमी मिल गया। लाओत्से ने पूछा—'तुम कौन हो भई ?'

'मैं प्लेग हू।'

'कहा जा रहे हो ?

'सघाई नगर जा रहा हू।'

'क्या करोगे वहा जाकर ?'

'मुझे दस हजार आदमियो को मारना है।'

लाओत्से आगे बढ गए। अश्वारोही भी तेजी से आगे बढ गया। कुछ दिन बीते।

लाओत्से घूम-फिर कर आ रहे थे। रास्ते मे पुन वही अश्वारोही मिला।

लाओत्से ने पूछा—'आ गए तुम ?'

'हा मेरा काम पूरा हो गया।'

'तुमने झूठ क्यो कहा मुझसे कि दस हजार आदमी मारने है ?'

'नही झूठ नही कहा था।'

'झूठ कैसे नही कहा ? सघाई मे प्लेग से पचास हजार आदमी मरे हैं।'

'तुम सच कहते हो, संघाई मे पचास हजार आदमी मरे हैं। किन्तु महाशय ! मैंने तो दस हजार आदमी ही मारे थे। शेप चालीस हजार आदमी मौत के भय से मर गए ? मैं क्या करता ? मैंने झूठ नही कहा है।'

यह सही है कि आदमी भय को पकड़ लेता है परिस्थिति के कारण। कही एक घटना घटती है, कही धमाका होता है और हार्टफेल किसी दूसरे का हो जाता है। एक घटना घटित होती है, सामने रहने वाला उससे प्रभावित होता है या नही, मरता है या नही, पर सुनने वाला मर जाता है—यह है परिस्थिति के घेरे मे जीना।

हमे भय की चर्चा ही नही करनी चाहिए, क्योकि भय की सतत् चर्चा करते रहने से सुनने वाले मे भय व्याप्त हो जाता है। हमे डरना नही है, भय से मुक्ति पानी है।

भय की उत्पत्ति के कारणो की चर्चा हमने की। अव भय-निवारण के उपायो की चर्चा करनी है। ऐसे कौन से उपाय और स्रोत हैं, निमित्त हैं, जिनका अवलम्वन लेकर आदमी भय से मुक्त हो सकता है ? क्या यह भी संभव हो सकता है कि भय की परिस्थिति होने पर भी आदमी डरे नही ? भय का निमित्त होने पर भी आदमी विचलित न हो, विक्षुब्ध न हो ? भय का वातावरण रहने पर भी आदमी अप्रकम्प रहे ? रोग उत्पन्न होने पर भी आदमी घवडाए नही ?

हा, ऐसा हो सकता है। प्रेक्षा उसका एक उपाय है। कायोत्सर्ग अभय वनने का उपाय है। प्रेक्षा-ध्यान करने वाले उपाय की साधना करते है। अपाय की चर्चा के साथ उपाय की चर्चा भी चलती है। अपाय और उपाय—दोनो परस्पर जुडे हुए हैं। अपाय को जाने विना उपाय को नही जाना जा सकता और उपाय को जाने विना अपाय को नही जाना जा सकता। यदि अपाय को निरस्त करना है तो उपाय का आलंवन लेना ही होगा। जिसे निरस्त करना है उसे भी

पूरी तरह से जानना होगा और जो निरस्त कर सकता है उसे भी पूरी तरह से जानना होगा। बुराई को निरस्त करना है तो उसे भी जानना पडेगा। बुराई अज्ञेय नही, ज्ञेय है। बुराई हेय हो सकती है, पर ज्ञेय तो है ही। अच्छाई भी ज्ञेय है और बुराई भी ज्ञेय है। हम जिसे जानते ही नही, उसे समाप्त कैसे करेंगे ? जहा ज्ञेय का प्रश्न है वहा बुराई और अच्छाई मे कोई अन्तर नही है। जहा हेय और उपादेय का प्रश्न आता है वहा बुराई हेय है और अच्छाई उपादेय है। हमे दोनो को जानना है, हेय को छोडना है और उपादेय को स्वीकार करना है।

मनोवैज्ञानिक परीक्षण का निष्कर्ष है कि ध्यान एक विषय पर चार सेकेण्ड से अधिक नही टिकता। ध्यान का सिद्धान्त इसे स्वीकार नही करता। उसके अनुसार एक ही विषय पर ध्यान, ५-१० घण्टा या अधिक भी स्थिर रह सकता है। किन्तु जिसने ध्यान का अभ्यास ही नही किया है, उसका ध्यान विचलित हो सकता है, जल्दी-जल्दी बदल सकता है। इस दृष्टि से मनोविज्ञान के ध्यान-विचलन के सिद्धान्त से हमारी अस्वीकृति नही है। जो ध्यान करने मे अभ्यस्त नही होता उसका ध्यान चार-पाच सेकेण्ड से अधिक एक स्थान पर नही टिकता। सभव है प्रत्येक सेकेण्ड मे वह बदलता रहे। इससे भी कम समय में परिवर्तन हो सकता है। मन की गति बडी तीव्र है। न जाने एक सेकेण्ड मे वह कितनी बार कहा-कहा चला जाता है! यह अकन गलत नही है, किन्तु कोई भी अकन या परीक्षण अतिम नही हो सकता। यदि हम अतिम मान लेते है तो भूल होती है, ध्यान की प्रक्रिया ही समाप्त हो जाती है, निरन्तरता की बात ही समाप्त हो जाती है। फिर सारा का सारा सातर ही सातर होगा, निरन्तर कुछ भी नही होगा। प्रेक्षा करते-करते हमारी ऐसी स्थिति का निर्माण होता है कि हम एक विषय पर लगातार अवधान करने मे सफल हो सकते हैं।

अवधान स्थायी बन जाता है। यह मनोविज्ञान के परीक्षण का विषय नही बन सकता। इसका कारण भी है। जब तक लेश्या का सिद्धान्त स्पष्ट नही होता तब तक ध्यान-विचलन का सिद्धान्त भी आगे नही बढ सकता। भाव परिवर्तन होता है और भाव परिवर्तन के आधार पर विचार परिवर्तन होता है। विचार परिवर्तन का अकन हो सकता है। भाव परिवर्तन का अकन नही किया जा सकता। विचार का कोई स्वतत्र अस्तित्व नही है, स्वतत्र मूल्य नही है। सारे विचार भावतत्र के आधार पर पैदा होते है और विलीन होते है।

तीन तत्र है—विचार का तत्र, भाव का तत्र और अध्यवसाय का तत्र। ये तीनो जुडे हुए है। अध्यवसाय से भाव पैदा होते है और भाव से विचार पैदा होते है। यदि हमने भाव को स्थिर रखने का उपक्रम किया, अभ्यास किया, उससे यदि भाव स्थिर बनते है, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या स्थिर होती है तो विचार अपने आप स्थिर बन जाएगे। यथार्थ मे कहना चाहिए कि विचार स्थिर नही बनते, समाप्त हो जाते है। विचार कभी स्थिर होता ही नही। विचार का अर्थ है—विचरण, गतिशील। गति का अर्थ है—चलना। जो चलता है वह है विचार और जो नही चलता वह है अविचार। तो फिर विचार स्थिर कैसे होगा? यह विरोधाभास है। विचार भी कहे और स्थिर भी कहे। दोनो एक साथ नही हो सकते। विचार स्थिर नही होता, मन स्थिर नही होता। मन का काम है विचरण करना, चलना, गतिशील होना। मन का स्वरूप यही है। ऐसी स्थिति मे हम मन को कैसे स्थिर करेगे? मन कभी स्थिर होता ही नही। मन समाप्त हो सकता है। मन की दो अवस्थाए है। या तो मन होगा या मन नही होगा। जब भाव होता है तब मन नही होता। मन होता ही नही। यह अमन की स्थिति पैदा होती है भाव की स्थिरता के द्वारा। जब अमन होता है तब भय की स्थिति सर्वथा

समाप्त हो जाती है।

भय से मुक्त होने का एक उपाय है—भाव-तंत्र का परिष्कार, लेश्या का विशुद्धीकरण। जब लेश्याएं शुद्ध होती है, भाव-तंत्र निर्मल होता है तो भय अपने आप विलीन हो जाता है।

भय की परिस्थिति

प्रसन्नता हमारे जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। आदमी हर्ष और शोक—दोनो से गुजरता है। हर्ष कोई बड़ी उपलब्धि नही है और इसलिए नही है कि हर्ष के पीछे शोक जुडा हुआ है। कभी हर्ष होता है और कभी ऐसी परिस्थिति आती है कि आदमी शोक मे डूब जाता है। शोक भी बहुत बुरी बात नही है। आदमी शोक मे होता है तो कभी हर्ष भी आ सकता है।

हर्ष और शोक से परे है प्रसन्नता। प्रसन्नता हमारे चित्त की निर्मलता है। उसमे न हर्ष होता है और न शोक होता है। आकाश प्रसन्न होता है तब न बादल होते है, न वर्षा होती है, न अन्धड होता है, कुछ भी नही होता, आकाश साफ होता है। केवल निर्मलता, केवल उज्ज्वलता, केवल प्रकाश। प्रसन्नता हमारे चित्त की निर्मलता की स्थिति है, किन्तु उसमे बाधाए बहुत है। जो बड़ी उपलब्धि होती है, वह बाधाशून्य नही होती। विशेष प्राप्ति के लिए बाधाएं आती है, विघ्न और संकट आते हैं। बिना बाधाओं के यदि बड़ी उपलब्धि हो जाए तो वह उपलब्धि बडी नही, छोटी बन जाती है। बडी उपलब्धि का अर्थ है कि उसकी प्राप्ति मे कितनी घाटिया पार की हैं? कितने आरोह और अवरोह आए हैं? चलते-चलते जब चरण थक जाते हैं और तब जो मजिल मिलती है, वह बड़ी मजिल होती है।

प्रसन्नता एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। अभय और प्रसन्नता का जोड़ा है। दोनो साथ-साथ रहते हैं। ऐसा नही होता कि अभय हो और प्रसन्नता न हो या प्रसन्नता हो और अभय न हो। भय आते

ही प्रसन्नता मिट जाती है।

मनुष्य का जीवन परिस्थितियो के चक्र से जुडा हुआ है। उसकी वहुत लम्वी शृखला है। उसको तोडा नही जा सकता। प्रसन्नता को समाप्त करने वाली या भय पैदा करने वाली कुछेक परिस्थितिया है। उनको जानना वहुत आवश्यक है।

वे परिस्थितिया सात हैं—

१. इहलोक भय
२ परलोक भय
३. आदान भय
४ अकस्मात् भय
५ वेदना भय।
६. मरण भय।
७ अश्लोक भय—अयश का भय।

भय की पहली परिस्थिति है—इहलोक भय। इहलोक का अर्थ है—मनुष्य जगत्। आदमी, आदमी से डरता है। आदमी, आदमी के लिए भय पैदा करता है। यह भय की पहली परिस्थिति है। आदमी को आदमी से नही डरना चाहिए क्योकि दोनो समानधर्मा है, दोनो आत्मवान् है, दोनो एक ही जाति के है, दोनो चेतनावान् हैं, दोनो समझदार है, दोनो वुद्धिमान् है। आदमी को आदमी से नही डरना चाहिए, यह एक तथ्य है, किन्तु प्रत्येक आदमी एक व्यूह से घिरा हुआ है। आदमी मे लोभ है, इसलिए वह भय पैदा करता है। यदि आदमी मे लोभ नही होता तो आदमी से डरने की जरूरत नही होती। भय का मूल सर्जक है—लोभ। कुछ आवेग है, कुछ उप-आवेग है। लोभ एक आवेग है और भय उसका उप-आवेग है। लोभ है तो भय है और लोभ नही है तो भय नही है। लोभी आदमी अपना स्वार्थ साधना चाहता है और जव व्यक्तिगत स्वार्थ की वात आती है तव दूसरो के लिए भय पैदा करता है। यह कभी नही होता कि स्वार्थ-सिद्धि हो और दूसरो के लिए भय की सृष्टि न हो। यह असभव वात है। जहा-जहां स्वार्थ-साधना की वात होती है वहा-वहा भय की सृष्टि

होती ही है। आक्रमण किसलिए होता है? साम्राज्यवादी मनोवृत्ति किसलिए होती है? चोरी, डकैती, लूट-खसोट, विश्वासघात और धोखाधड़ी क्यो होती है? जितने भी ये असद् आचरण और व्यवहार है, ये सारी लोभ के केन्द्र से निकलने वाली रश्मियां है। ये वे तरंगें है जो लोभ के महासागर में से उछाले भरती रहती है और आकाश को चूमती रहती है। ये सारी उत्ताल तरंगें है। लोभ का महासमुद्र है, उसमे से ये उछलती है। जब तक लोभ है, तब तक स्वार्थ और जब तक स्वार्थ है तब तक आदमी दूसरे आदमी के लिए खतरा है और भय है। कभी खतरे से परे की बात नही सोची जा सकती, कभी भरोसा नही किया जा सकता। यही कारण है कि इस दुनिया मे कोई आदमी किसी का भरोसा नही करता। अपने बाप का भी भरोसा नही करता। भरोसा अपने बेटे का भी नही करता और पत्नी का भी नहीं करता। सर्वत्र संदेह की स्थिति है। कोई किसी का भरोसा नही करता। हर व्यक्ति के पास अतिम बात गुप्त है। जो चाभिया है, वे गुप्त हैं। हर व्यक्ति के पास अपने रहस्य है, मन्त्र है, गुप्त योजनाए है, क्रिया-कलाप और व्यवहार है। वह इस अतिम बात को कही बताना नही चाहता, उद्घाटित करना नही चाहता। औरो की बात ही क्या, गुरु भी अन्तिम गुर किसी को नही बताता, अपने पास ही रखना चाहता है। यही कारण है कि भारत की अनेक विद्याए लुप्त हो गईं। गुरु अपने प्रिय शिष्य को भी रहस्य नही बताते और गुरु की मृत्यु के साथ वह विद्या भी लुप्त हो जाती। इसका कारण है कि कोई किसी पर भरोसा नही करता। बात भी सही है कि भरोसा किया कैसे जाए? बडी कठिन बात है। एक कहानी है।

एक मंत्रवादी कही जा रहा था। रास्ते मे उसने देखा कि एक चूहा तड़फ रहा है। मत्रवादी का दिल पिघला। उसने उसे शेर बना दिया। कहा एक छोटा-सा चूहा और कहा महान् शक्तिशाली शेर!

कहा वह चूहा जो प्रतिपल बिल्ली से डरता रहता और कहा शेर जो जगल का राजा है, जिससे सब डरते हैं। इतना बडा बना दिया। जैसे ही चूहा शेर बना, पेट भी बडा बना, भूख भी ज्यादा बढी। भूख से वह अकुलाया, छटपटाहट हुई। पेट कैसे भरा जाए ? उसने सोचा—क्या खाऊ, कहा से लाऊ। सामने वही मंत्रवादी खडा था, जिसने चूहे को शेर बनाया था। अब शेर ने सोचा, भूख को मिटाने के लिए इसे ही क्यो न खा लू ? तत्काल वह उस पर झपटा और खाने को दौडा। मत्रवादी ने सोचा—अरे इतना कृतघ्न ! मैंने इसे डरपोक चूहे से शक्तिशाली शेर बनाया, छोटे से बडा बनाया और यह मुझे ही खाने आ रहा है ? तत्काल मत्रवादी ने विपरीत मत्र पढा और वह शेर पुन. चूहा हो गया।

यह है ससार की स्थिति। विश्वास कैसे किया जाए ? इस दुनिया मे चूहे को शेर बनाने वाला क्या शेर पर भरोसा कर सकता है ?

पिता अपने पुत्र को छत पर खडा कर स्वय नीचे आकर आगन मे खडा हो गया। नीचे से उसने अपने पुत्र से कहा—'बेटे ! ऊपर से कूद पडो। मैं अपनी बाहो मे तुम्हे झेल लूगा।' पिता ने अपनी बाहे फैला दी। बेटे ने विश्वास कर लिया। वह ऊपर से कूदा। पिता ने तत्काल बाहे समेट ली। वह नीचे फर्श पर गिर पडा। बेटे ने कहा—'पिताजी ! यह क्या किया आपने ? आपने तो कहा था कि बाहो मे थाम लूगा, पर ज्योही मैं कूदा आपने बाहे समेट ली। यह क्यो ?' पिता बोला—'बेटे ! तुझे मैं एक महत्त्वपूर्ण पाठ पढाना चाहता था। आज अच्छा अवसर मिला। मैं यह पाठ पढाना चाहता था कि यह ससार ऐसा है जहां विश्वास सगे बाप का भी नही करना चाहिए।'

यह दुनिया ही ऐसी है। इस स्वार्थपूर्ण और लोभपूर्ण दुनिया मे आदमी, आदमी का विश्वास कैसे कर सकता है ? पूरा विश्वास कर ही नही सकता। इसीलिए हर व्यक्ति के बीच मे, फिर चाहे उनमे

कितनी ही निकटता हो, आपस मे कितना ही जुड़ाव हो, एक छिपाव है, अलगाव है और भय का सूत्र जुडा हुआ है। दो व्यक्ति पास-पास मे है, फिर वे चाहे पति-पत्नि हो, पिता-पुत्र हो, माता-पुत्र हो—दोनो के बीच मे सदेह का एक सूत्र बराबर काम करता है। पास मे बैठे हुए भी वे अलग है, पूरे जुड़े हुए नही है। यह एक स्थिति है—इहलोक भय की।'

आदमी, आदमी से डरता है और इसलिए डरता है कि आदमी मे लोभ है, स्वार्थ है और कृतघ्नता का भाव है। तीनो बराबर साथ चल रहे है।

भय की दूसरी परिस्थिति है—परलोक भय। पर-लोक का अर्थ है—पशुजगत्। आदमी पशुजगत् से डरता है। आदमी पशु से बहुत भय खाता है। रात को हाथ मे लाठी लेकर चलता है। क्योकि उसे भय है, रास्ते मे कही कुत्ता न काट खाए, गाय या अन्य पशु कुछ कर न दे, टक्कर न मार दे। कुछ लोग बिल्ली और चूहो से भी डरते है। साप और बिच्छू से न डरने वाले तो बहुत ही कम है, सब डरते है। पशुजगत् से बहुत बडा भय होता है। कुत्ता काटे, गाय-भैस सीग लगाए या न लगाए, उनका भय बराबर बना रहता है। कही बैल और सांड खडे हो तो आदमी बचकर निकलता है, क्योकि उसके मन मे यह भय है कि वे कही सीग न लगा दें, टक्कर न मार दें। यह भय बुद्धि मे समाया हुआ है। वह सीग लगाए या न लगाए, पर सीग लगाने की कल्पना बनी रहती है, इसलिए भय भी बराबर बना रहता है।

परलोक भय का अर्थ—भूत-प्रेत का भय भी है। यह बडा विचित्र भय है। बहुत ही अद्भुत कहानियां है भूत और प्रेत के भय की। इस प्रसग मे भय की दो स्थितिया और जान लेनी चाहिए। भय दो प्रकार का होता है—काल्पनिक भय और वास्तवित भय।

कही-कही भय केवल काल्पनिक होता है, वास्तविक नही होता। मैंने देखा है एक आदमी को। उसका नाडी-संस्थान इतना दुर्बल था कि कोई भी आदमी सामने आता वह डर जाता, भय लगता कि कही मुझे मार न दे पीट न दे। वह चिल्लाने लग जाता। यह है काल्पनिक भय। जैसे-जैसे नाडी-सस्थान की दुर्बलता बढती है, वैसे-वैसे काल्पनिक भय की मात्रा भी बढने लग जाती है। काल्पनिक भय का और नाडी-सस्थान की दुर्बलता का बहुत बडा सम्बन्ध है। कमजोर नाडी-सस्थान वालो को जाने-अनजाने, दिन और रात मे, भय सताता ही रहता है। उन्हे यह जान लेना चाहिए कि उनके नाडी-सस्थान मे दुर्बलता आ गई है और मस्तिष्कीय ज्ञान-तंतु ठीक काम नही कर रहे है।

कभी-कभी भय यथार्थ होता है, वास्तविक होता है, किन्तु भय की घटनाए सामने होती हे। भूत और प्रेत की बाते काल्पनिक भी होती है, और यथार्थ भी होती है। अधिकाश बाते काल्पनिक ही होती है, पर कभी-कभी उनमे कुछ वास्तविकता भी पाई जाती है। मन मे एक अवधारणा बनी हुई है कि अन्धेरे मे भूत और प्रेत होते है। जैसे ही अन्धेरा सामने आता है, भूत और प्रेत नाचते हुए दिखने लग जाते है। जिस व्यक्ति को अन्धेरे मे डर लगता है वह ही बता सकता हे कि अकेला हो और अन्धेरा हो तो उसे लगता है कि इस ससार मे भूत-प्रेत के सिवाय किसी का भी अस्तित्व नही है। सीढियो मे देखता है तो भूत खडा दिखाई देता है, भीत की ओर देखता है तो भूत भीत पर चढते-उतरते दिखाई देता है। आमने-सामने देखता है तो भूत ही भूत दिखाई देते हैं। बडी अजीब परिस्थिति हो जाती है। भय कल्पनागत हो जाता है, कल्पना मे समा जाता है।

लाडनू मे वृद्ध साध्वियो का स्थिरवास है। वे जिस मकान मे रहती है वह पीरजी का स्थान माना जाता है। यह भी माना जाता है कि पीरजी वहा यदा-कदा आते हैं। यह सच भी है। एक बार

साध्वियां कही दूसरे मकान में रह रही थी। उस (मूल) मकान मे साधु थे। एक साधु रात को १२-१ बजे कार्यवश बाहर जाने के लिए उठा और अपने स्थान से चला। एक कमरे से ज्यो ही वह बाहर आया, उसने देखा कि सामने कोई बैठा है। उसके कपडे सफेद है। उस साधु ने सोचा—इस समय कौन हो सकता है? पीरजी आकर बैठे है। थोडा भय लगा, घबड़ाहट हुई। पर सोचा, यदि डर जाऊंगा तो डर सदा के लिए कायम हो जाएगा। डरना तो नही है। देखू क्या है? कल्पना मे तो पीरजी आ गए, निकट जाने का साहस बटोर कर उस दृश्य के पास गया और देखा कि वहा कोई पीरजी नही है। एक पट्ट पडा है और उस पर सफेद कपडा रखा हुआ है। दूर से वह पुरुषाकृति-सी लग रही थी, पर यथार्थ नही थी। कल्पना का भूत समाप्त हो गया।

ऐसी अनेक छायाए, अनेक प्रतिविम्ब प्रतिदिन हमारे सामने आते रहते है। फिर कल्पना की तस्वीर बन जाती है, एक आकृति बन जाती है और तब लगता है कि जरूर कोई न कोई खडा है। आदमी डर जाता है। यह है भूत और प्रेत का काल्पनिक भय।

कभी-कभी कोई आवाज सुनाई देती है और आदमी डर जाता है। श्मशान मे दीया दिख जाये तो भूत की कल्पना साकार हो जाती है। कही प्रकाश दिख जाये तो बडी परेशानी हो जाती है। यदि हम काल्पनिक भय को समाप्त कर सकें तो नव्वे प्रतिशत भय से मुक्ति मिल जाती है। फिर केवल दस प्रतिशत भय शेष रहता है। मैं यह नही कहता कि भूत और प्रेत से सम्बन्धित भय की कहानिया सारी काल्पनिक है, वास्तविक भी हो सकती है, पर है वे विरल। परन्तु यथार्थ भय से डरना भी अच्छा नही है। उसमे स्थिति और अधिक कमजोर बन जाती है। यदि आदमी का मनोबल दृढ रहता है तो भूत कुछ भी नही कर सकता। भूत और प्रेत का भय वहा होता है जहां

भय पहले से व्याप्त होता है। विना भय व्याप्त हुए कोई किसी का कुछ विगाड नही सकता। भगवान् महावीर ने कहा—'भीतो भूएहिं घेप्पइ' भूत उसी को लगता है जो डरता है। जो नही डरता, भूत उसका कुछ भी नही विगाड पाते। भूत और प्रेत की मर्यादाए होती है, सीमाए होती है, वे हर किसी को सता नही सकते, हर किसी को पीडित नही कर सकते। वे उसी मे समा जाते हैं, जहा उन्हे पात्र मिलता है। अपात्र मे वे कभी नही जाते। पात्र कौन होता है? भूत और प्रेत का पात्र होता है भीत आदमी, डरा हुआ आदमी। जो डरा हुआ है वह इसका सही पात्र होता है, और इसका वहुत वडा प्रमाण है कि स्त्रियो को जितने भूत लगते है, पुरुषो को उतने नही लगते। स्त्रिया भूत-प्रेत से अधिक ग्रस्त होती है और इसका स्पष्ट कारण है कि उनमे पराक्रम की कमी होती है। वे वहुत शीघ्र भयभीत हो जाती है, इसलिए प्रेतात्माओ से जल्दी ग्रस्त होती हैं। यह अधिक मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण सूत्र है कि भूत भीत आदमी को ही पकडते है। अभीत आदमी कभी भूत-ग्रस्त नही होता।

भय की तीसरी परिस्थिति है—आदान भय। इसका अर्थ है—सयोग और वियोग का भय। यह इतना वडा भय है कि इसका तनाव निरन्तर वना रहता है। प्राप्त वस्तु विछुड न जाए, चली न जाए और अप्रिय वस्तु का सयोग न हो जाए—यह तनाव वना ही रहता है। अपना प्रिय व्यक्ति जव यात्रा पर प्रस्थान करता है तव यह विकल्प अनायास ही आ जाता है कि कही दुर्घटनाग्रस्त न हो जाए! संयोग और वियोग का चक्र निरन्तर घूमता रहता है। आदमी इष्ट का वियोग या अनिष्ट का सयोग कभी नही चाहता। आदमी कही भी जाए, वह अनेक भयो का भार लेकर जाता है। कुछ लोग शिविर मे आते हैं, तो भयो को लाद कर ले आते है। दो-चार दिन वाद कहते हैं—'शिविर मे आने से पूर्व तो इतना भय था पर अव नही रहा। भय

मिटा है।' जो भय के पात्र को भरा हुआ लेकर आए हैं तो उन्हे अभय की पूरी वात समझ मे कैसे आ सकेगी ?

आदमी शरीर को बहुत आराम देना चाहता है। थोडा-सा कष्ट होता है, वह घवडा जाता है। क्या इतना आराम, इतनी असहिष्णुता और शरीर का इतना लालन-पालन हितकर हो सकता है ? यह वहुत वडा प्रश्न है।

आयुर्वेद के आचार्य कहते है—इन्द्रियो को वहुत सताना भी नही चाहिए और उनका बहुत लालन-पालन भी नही करना चाहिए। यदि माता-पिता बच्चे का वहुत उत्पीडन करते है तो बच्चे बिगड जाते है और यदि बच्चे का अधिक लालन-पालन करते है तो भी बच्चे विगड जाते है। इन्द्रिया भी बच्चे की तरह है। इनमे सतुलन होना चाहिए। संतुलित होने पर इन्द्रियां ठीक काम करती है। शरीर की अधिक सार-संभाल, साज-सज्जा, ज्यादा सवारना, सतत् उसका चिन्तन करना बहुत खतरनाक स्थिति पैदा कर देता है, शारीरिक दृष्टि से भी और मानसिक दृष्टि से भी। हमने देखा कि जो श्रम करना नही चाहते, वे चीनी की वीमारी से पीडित हो जाते हैं। जो ज्यादा आरामतलबी चाहते है, वे चीनी की बीमारी से ग्रस्त हो जाते है। आयुर्वेद मे इस रोग का नाम ही है 'सुखासिक'। हार्ट ट्रबल भी उन्ही लोगो को अधिक होता है जो श्रम नही करते। आराम से पडे रहते है। उनकी धमनिया मोटी पड जाती है, रक्त का सचार पूरा नही होता। पुराने लोग हृदय की वीमारी होने पर विश्राम की सलाह देते थे किन्तु आज के डाक्टर यह सलाह देते है कि घूमो, फिरो, हल्का व्यायाम करो, जिससे कि रक्त-सचार ठीक हो सके। आज का डॉक्टर आराम की सलाह नही देता। इससे ऐसा लगता है कि आज का डॉक्टर अध्यात्म के निकट आ रहा है, जाने-अनजाने।

वस्तु की अधिक सार-सभाल भी भय का उत्पादक वनता है।

वस्त्रो की स्वच्छता और पहनने-ओढने की चतुराई आवश्यक होती है। पर कपडो मे इतना उलझ जाना कि सारा ध्यान उसी मे अटक जाए, यह वाछनीय नही है। इससे भय की स्थिति बनती है। मूर्च्छा गहरी होती जाती है और फिर भय ही भय लगने लगता है। यह भय की बीमारी को पालने का साधन है। अधिक आराम, अधिक साज-सज्जा, कपडो पर ध्यान देना—ये साधन हैं भय को पालने के। इनमे भय को अधिक सुरक्षा मिलती है।

भय की चौथी परिस्थिति है—अकस्मात् भय। अकस्मात् भय की घटनाए काल्पनिक भी होती हैं और वास्तविक भी होती हैं। कभी-कभी कोई घटना घटती है और भय उतर आता है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नही होगा जिसने दुर्घटना का सामना न किया हो। बिना सोचे, बिना जाने अकस्मात् कोई न कोई परिस्थिति जीवन मे उतर आती है। यह आकस्मिक भय की स्थिति है। आदमी चला, सब ठीक था। अकस्मात् ठोकर लगी, डर बैठ गया। आदमी तैरने गया, अकस्मात् पैर फिसला, डूबने लगा, डर गया। अकस्मात् कोई घटना होती है और आदमी इतना सहम जाता है कि दूर भागने लग जाता है। ये सारी पलायनवादी वृत्तिया आकस्मिक घटनाओ के कारण होती हैं। आकस्मिक दुर्घटनाए आकाश मे हो सकती है, भूमि पर हो सकती हैं, वायुयान मे चढने वालो के हो सकती है, भूमि पर चलने वालो के हो सकती है, सबके हो सकती है।

भय की पाचवी परिस्थिति है—वेदना भय। रोग, बुढापा आदि वेदना का मूल है। ऐसा कौन व्यक्ति होगा जिसने अपने जीवन मे रोग न भोगा हो। आजकल तो बच्चा गर्भ से ही रोगी बनकर आता है। जिस दिन भ्रूण बनता है, उस दिन से ही रोग को पाल लेता है, या माताए पलवा देती हैं। वह उसी अवस्था मे रोगी बन जाता है। रोग का सामना करना कोई बडी बात नही है।

बडी बात यह है कि आदमी रोग के नाम से ही डर जाता है। रोग होना एक बात है और रोग का भय होना बिल्कुल दूसरी बात है। हम इस विवेक को बहुत साफ-साफ समझे कि भय की परिस्थिति होना और भय होना—दोनो एक नही है। दोनो में दूरी भी है, निकटता भी है, किन्तु दोनो कभी नही मिलते। दोनो बातें समानान्तर रेखा की भाति साथ-साथ तो चलती है, किन्तु परस्पर कभी नही मिलती। इनका सगम कभी होता ही नही। हमने दोनो को एक मान रखा है, अपने ही मिथ्या दृष्टिकोण के कारण। हम उनकी सकरी-सी भेद-रेखा को समझ नही पाते।

रोग, बुढापा और मरण—ये तीनो दु ख माने गए हैं। किन्तु दु ख मान लेने से भी डर की कोई बात नही है।

हर आदमी रोगी बनता है, पर वह रोगी असाध्य नही होता जो रोग को रोग जानता है, रोग को रोग मानता है, कष्ट देने वाला मानता है, किन्तु उससे डरता नही। वह रोगी असाध्य होता है जो रोग से डर जाता है। जो रोग से डरता है, उसका रोग हजार गुना बढ जाता है और जो नही डरता उसका रोग बहुत कम हो जाता है। कभी-कभी शून्य बिन्दु पर भी चला जाता है।

ससार मे अनेक चिकित्सा पद्धतिया चली रोग को मिटाने के लिए। उनका प्रयोजन है—बीमारी मिटे, दु ख मिटे, आदमी को वेदना का सामना न करना पड़े। बीमारियो को मिटाने के लिए औषधिया, यत्र, मत्र, रसायन, खनिज आदि का उपयोग चला, किन्तु ऐसा भी हुआ कि कोई चिकित्सा नही, कोई औषधि नही, कोई मत्र नही, केवल रोग को देखना, उसे जानना और सहन करना, उससे डरना नही, ऐसा होने पर वे मनुष्य रोग के होने पर भी अरोग रहे है, बिल्कुल स्वस्थ रहे है। जिन लोगो ने डर के साथ दवाइयो का सेवन किया है, चिकित्सा पद्धति की शरण ली है, वे नीरोगता की कामना करते हुए भी रोगी बने

रहे ।

सनत्कुमार चक्रवर्ती थे । सार्वभौम साम्राज्य के स्वामी । कोई ऐसा योग हुआ कि उनके सुन्दर शरीर मे एक साथ सोलह बडे रोग उतर गए । सारे रोग एक-एक से भयकर थे । शरीर के सौन्दर्य का सारा गर्व चूर-चूर हो गया । साम्राज्य को छोडकर मुनि बन गए । साधना मे लग गए । प्रखर साधना की । शरीरातीत स्थिति का अनुभव करने लगे । अनेक विशिष्ट योगज लब्धिया प्राप्त हुई । रोग बने रहे, पर वे सता नही रहे थे, भय पैदा नही कर रहे थे । मुनि सनत्कुमार रोगो से आक्रान्त होते हुए भी अपने आप मे अभय बने हुए थे । ऐसा लग रहा था कि रोग और स्वास्थ्य दोनो साथ-साथ चल रहे हैं और मुनि दोनो के बीच मे खडे है । उनका ध्यान न रोग की ओर है और न स्वास्थ्य की ओर । वे अभय की मुद्रा मे स्थित हैं । जो ऐसा करता है, उसकी त्वचा की सवाहिता इतनी बढ जाती है और रोग-निरोधक शक्ति इतनी तीव्र हो जाती है कि रोग रहता है, पर सताता नही, अपने आप मे पडा रहता है ।

एक दिन एक वैद्य आकर बोला—'मुनिवर! आपके शरीर का सस्थान देखकर लगता है कि आप बहुत बडे घराने के हैं । आपके शरीर की श्रीविहीनता देखकर लगता है कि अनेक रोग साथ चल रहे है । मेरे पास उन रोगो को मिटाने की अचूक दवा है । आप औषधि का सेवन करे, और निरोगता से साधना मे और तीव्रता लाए ।' मुनि ने चिकित्सा को सर्वथा अस्वीकार कर दिया । वैद्य ने आग्रह करते हुए कहा—आप अस्वीकार न करें । मैं सेवा-भावना से आपकी चिकित्सा करना चाहता हू । औषधि-सेवन मे आपको कोई कष्ट नही होगा । उन कीमती और अचूक औषधियो से आप शीघ्र स्वस्थ हो जाएंगे । आग्रह करता रहा वैद्य और अस्वीकार करते रहे मुनि । बहुत समय बीत गया । मुनि बोले—'तुम मेरी क्या चिकित्सा करोगे ? कहां है

ऐसी औषधि तुम्हारे पास जो मेरे पास है ?' मुनि ने अंगुली अपने मुह मे डाली। थूक को अपने शरीर से झरते हुए कुष्ठ रोग पर चुपडा और वैद्य ने फटी आखो से देखा कि मुनि का सारा शरीर कचनमय वन गया है। उसके आश्चर्य का आर-पार नही रहा। वह मुनि के सौन्दर्य को देखता ही रह गया।

मुनि वोले—'तुम क्या चिकित्सा करोगे ? कहा है तुम्हारे पास ऐसी औषधियां जो मेरे पास हैं, मेरे शरीर मे हैं? साधना और तपस्या के द्वारा अनेक लब्धिया मुझे स्वत. प्राप्त है। उनमे पाच ये है— जल्लौषधि, आमर्षौषधि, क्ष्वेलौषधि, सर्वौषधि, स्वेदौषधि। साधना करते-करते ये शक्तियां जाग जाती है। इनमे इतनी वडी शक्ति होती है कि वाहरी औषधियां इनके समक्ष व्यर्थ हो जाती हैं। श्लेष्म का थोडा-सा भी स्पर्श होता है और शरीर स्वर्णमय वन जाता है। उस लब्धि-सपन्न व्यक्ति के शरीर से छूकर जो हवा जाती है और दूसरे के शरीर का स्पर्श करती है तो वह व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है, वीमारी मिट जाती है। ऐसी स्थिति मे तुम मुझे क्या दवा दोगे ? तुमने आकर साधना मे विघ्न डाला है। मैं तो साधना मे था। मुझे वीमारी का भान ही नही था। तुमने आकर अहकार दिखाया कि मेरी दवाएं अचूक है। देख लिया तुमने ?'

वैद्य वेचारा निरुत्तर था। वह क्या वोलता ? चरणो मे गिर-कर वोला—'मुनिवर ! मैंने वड़ा अपराध किया है। आप क्षमा करे।'

भय की छठी परिस्थिति है—मरण भय। आदमी वीमारी से नही मरता, आदमी मरता है डर से। किसी को कह दिया जाए कि तुम्हारे भीतर केन्सर पल रहा है। यह सुनते ही वह मरना शुरू कर देता है। अगर न मरे तो संभव है केन्सर भी उतना कष्ट न दे। किसी को कह दिया जाए कि तुम हृदय-रोग से ग्रस्त हो तो वह उसी क्षण से तिल-तिलकर मरना प्रारम्भ कर देता है। आदमी डर से ही मरता है,

मृत्यु से नही।

एक भोला आदमी था। दात वधे हुए थे। रात को सोते समय दातो को एक कटोरे मे रख दिया। उसमे पानी भरा हुआ था। एक वच्चा कही से आया और दातो को खिलौने समझ ले भागा। वह आदमी सुवह उठा। पास मे दातो को ढूढा। वे नही मिले। उसके मन मे कल्पना जागी कि हो सकता है रात को नीद मे मै दातो को निगल गया होऊ। तत्काल उसके पेट मे असह्य पीडा होने लगी। पीडा से छट-पटाने लगा। घर वाले आए। डाक्टर को वुलाया। डाक्टर ने कहा—ऑपरेशन होगा। कल्पना-कल्पना मे सारी स्थिति बिगड गई। उसे यथार्थ का वोध-सा होने लगा। पेट मे असह्य पीडा हो रही थी। यह यथार्थ थी, पर थी वह कल्पनाजनित। कुछ देर वाद वही बच्चा हाथ मे दातो की जोडी लिए आ पहुचा। दातो को देखते ही आदमी का दर्द गायव हो गया। वह स्वस्थ हो गया। घर वाले देखते ही रह गए।

यह हमारे जीवन मे प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि रोग नही मारता, रोग का भय मारता है।

भय की सातवी परिस्थिति है—अश्लोक भय। अश्लोक का अर्थ है—अपयश। आदमी अपयश से डरता है। वह सदा यह चाहता है कि उसकी साख बनी रहे, उसकी मान-प्रतिष्ठा वनी रहे, उसका यश खडित न हो। वह अपने यश को वनाए रखने के लिए झूठे मानदण्डो को भी अपनाता है, कष्ट भी सहता है और अनेक कठिनाइयो का सामना करता है। इन सवके पीछे अश्लोक भय काम करता है। इस भय से प्रताडित व्यक्ति कभी-कभी वहुत अनर्थकारी कार्य भी कर डालता है।

प्रेक्षा-ध्यान के साधक यदि इस भेदरेखा को समझ ले तो वहुत लाभान्वित हो सकते है। भय और भय की परिस्थिति एक नही, दो है, यह आज के प्रवचन का निष्कर्ष-सूत्र है। ०

भय की प्रतिक्रिया

प्रेक्षा-ध्यान प्रकाश की साधना है। प्रकाश और अभय—दोनो साथ होते है। अधकार और भय—ये दोनो भी साथ होते है। भय को अधकार और अधकार को भय माना जा सकता है। जीवन मे जितना भय होता है, वह जीवन का अन्धकार ही होता है। वह अन्धकार चाहे प्रकृति का हो, चाहे दृष्टिकोण का हो, चाहे जीवन का हो, है आखिर वह अधकार ही। अंधकार को बुरा ही क्यो माने ? भय को बुरा ही क्यो माने ?

यह प्रश्न स्वाभाविक है। एकान्तदृष्टि से नही कहा जा सकता कि भय बुरा ही है। भय अच्छा भी हो सकता है। परन्तु इसका निर्णय हमे प्रतिक्रिया के आधार पर करना होगा। किस भय की कैसी प्रतिक्रिया होती है ? भय दो प्रकार का होता है। भय रचनात्मक भी होता है और भय ध्वसात्मक भी होता है। अभय रचनात्मक तो होता ही है, पर वह ध्वसात्मक भी होता है। प्रत्येक तथ्य या वस्तु का विश्लेषण अनेकात के सदर्भ मे करना होगा।

आज जो हम भय की चर्चा कर रहे हैं, वह प्रतिक्रिया के आधार पर कर रहे है। जिसकी प्रतिक्रिया होती है—रोग, बुढ़ापा, मरण, विस्मृति और पागलपन—वैसा भय वर्जनीय होता है, इष्ट नहीं होता। ये पाच प्रतिक्रियाए है।

पहली प्रतिक्रिया है रोग। यह निर्विवाद तथ्य है कि हम रोग को निमन्त्रित करते है। अनामन्त्रित इतने रोग कहा से आएगे ? घर मे भी अनामन्त्रित एक-दो व्यक्ति आ सकते है, पर पचासों व्यक्ति कैसे

आ घुसेगे ? इतने रोग कैसे आएगे ? हम उन्हे बुलाते है तब वे आते है। हम उनका इतना आदर-सत्कार करते है कि वे वहा से हटना नही चाहते। रोग भय की प्रतिक्रिया है। आदमी डरता है, वहुत डरता है और डर के कारण अनेक रोगो को पाल लेता है। किसी बीमार को देखकर दूसरा व्यक्ति भय से भर जाता है कि कही यह रोग मुझे भी न लग जाए? यह विकल्प उठना ही वीमारी को पहला निमन्त्रण है। यह विकल्प प्राय सभी व्यक्तियो मे उठता है और वे रोग के भय से आक्रात हो जाते है।

रोग उतना दु खद नही होता जितना कि भय के साथ रोग दु खद होता है। रोगी दु खी होता है, रोग कुछ कष्ट देता होगा पर जव वह भय से सयुक्त होता है तो कष्ट भयकर बन जाता है और फिर सताने की वात आ जाती है। रोग अपने सतान की वृद्धि करता है। एक के वाद दूसरा और दूसरे के वाद तीसरा रोग उभरता रहता है। उत्पादक शक्ति रोग के उत्पादन मे लग जाती है।

भय की दूसरी प्रतिक्रिया है—बुढापा। भय के कारण आदमी बूढा बनता है। जो अभय होता है, वह बूढा नही होता। उसके वाल सफेद हो गए, फिर भी वह बूढा नही है। वह सत्तर वर्ष का हो गया फिर भी वह बूढा नही है। यह तो शरीर की स्वाभाविक प्रक्रिया है। ज्यो-ज्यो अवस्था वढती है, केश सफेद होते है। यह कोई बुढापा नही है।

वास्तव मे शक्तियो का क्षीण होना बुढापा है। यह बुढापा भी हमारे निमत्रण पर आता है। विना निमत्रण वह नही आता। हम जाने-अनजाने उसे बुलाते है और वह आता है।

यूनान के एक प्रसिद्ध चिकित्सक और संत इगनेशिया से पूछा गया—आदमी जीवन भर स्वस्थ और युवा कैसे रह सकता है ? उसने सीधा उत्तर देते हुए कहा—अपनी भूलो को सुधारो, भ्रातियो को

छोड़ो, स्वस्थ रहोगे और जीवन भर युवा बने रहोगे। हमारी भूल और भ्रातिया बुढापे को बुलाती हैं। जो व्यक्ति आहर-विहार मे भूलें नही करता, वह जल्दी बूढा नही होता। जल्दी बूढा बनने का कारण है—आहार-विहार की भूले, रहन-सहन की भूले। अवस्था छोटी होती है। खाने की पूरी सामग्री सामने होती है। पचाने की क्षमता भी होती है और वह सोचता है कि जितना जीभ को स्वाद दे दिया जाए, उतना ही जीवन का कल्याण है। जितना खा लिया जाए, उतना ही अच्छा है, पता नही अगले जन्म मे मिलेगा या नही? जो सर्वस्वाहा, सर्वभक्षी मनोवृत्ति है, यह बुढापे का पहला निमन्त्रण है।

आखिर पाचन-तत्र की जितनी शक्ति है उतनी ही है। लीवर जितना रस छोड़ता है, उतना ही छोड़ता है। पेन्क्रियाज को जितना काम करना है, उतना ही करना है। इस प्रकार पाचन-तत्र के सारे अवयवो को जितना काम करना है, उतना ही करना है। किसी ने कहा—यह फल का रस है, सतरे का रस है, एक किलो पी लो। पानी जैसा ही तो है। पीने वाला या कहने वाला नही जानता कि उस रस को पचाने मे पाचन-तत्र के पास शक्ति है या नही? उसकी शक्ति सीमित होती है। पाचन-तत्र मे हर वस्तु को पचाने की अलग-अलग शक्ति है। हमारी आते और पक्वाशय कितना प्रोटीन, कितना कार्बो-हाइड्रेट, कितना क्षार, कितना लवण और विटामिन्स पचा सकते हैं, इसकी एक निश्चित मात्रा है। इसका एक निश्चित गणित है। अनिश्चित कुछ भी नहीं है। हम नही जानते कि पाचन-तत्र मे पूरा विवेक है। मस्तिष्क मे चाहे पूरा विवेक हो या न हो, पाचन-तंत्र मे पूरा विवेक है कि किसको पचाने के लिए कितना स्राव करना है। पूरी व्यवस्था बनी हुई है।

आदमी व्यवस्थित खाता है, संतुलित भोजन करता है तो बुढ़ापा दूर चला जाता है। यदि सतुलित भोजन नही करता है तो

बुढापा निकट से निकट आता चला आता है। जिसको निमंत्रण दिया जाए वह तो आएगा ही।

चिकित्साशास्त्री सत ने बहुत ही सुन्दर समाधान दिया कि भूलें और भ्रांतिया बुढापे को लाती है। जो उन्हे छोडता है वह सदा युवा बना रहता है, स्वस्थ बना रहता है। सौ वर्ष की उम्र हो जाने पर भी वह स्वस्थ और युवा बना रहता है।

भय की तीसरी प्रतिक्रिया है—मरण। डरने वाला व्यक्ति स्वाभाविक मौत से नही मरता, आत्मघात करके मरता है। स्वाभाविक मौत सहज ही आती है, बुलाई नही जाती। यह हो सकता है कि किसी व्यक्ति का जीवन कम वर्ष का हो और किसी व्यक्ति का जीवन अधिक वर्ष का हो, किन्तु स्वाभाविक ढग से मरेगा तो अपनी मौत मरेगा। किन्तु भय से मरने वाला व्यक्ति अपनी मौत से कभी नहीं मरता। वह आत्मघात करके मरता है। आत्महत्या करने वाले का पता लग जाता है कि उसने आत्महत्या की है। सौ मे से दो-चार व्यक्ति आत्महत्या करने वाले होते है। किन्तु आत्मघात करने वाले अधिक होते है, सौ मे से पचानवे व्यक्ति। पचानवे व्यक्ति डरते है और वे आत्मघात करते है, बेमौत मरते है। वे डरते है कि मौत आ न जाए। वे डरते है इसलिए मौत जल्दी आ जाती है। जिसे टालने की बात करते हैं और डरते है, वह टलता नही, शीघ्र आ जाता है। यह एक तर्क है। इसे समझना चाहिए। यह बहुत सरल गणित है। इसे भूलना नही चाहिए।

एक आदमी ने पूछा—दो और दो कितने होते हैं? एक ने कहा—चार, दूसरे ने कहा—बावीस और तीसरे ने कहा—कभी चार और कभी बावीस। तीन उत्तर हो गए तीसरे व्यक्ति को नौकरी मिल गई। प्रश्न सरल था, पर तीनो के तीन उत्तर थे। दो उत्तर एकातिक थे। वे व्यवहार्य नही थे। तीसरे का उत्तर अनेकांतिक था। वह व्यव-

श्चार्य था। उसका उत्तर पूर्ण था, अधूरा नही।

जीवन का गणित बहुत सीधा-साधा है, पर वह बहुत टेढा बन गया है। मेरी कविता की दो पंक्तियां हैं—

'सहज सरल जीवन की पोथी,
बड़ा जटिल अनुवाद हो गया।'

जीवन की पुस्तक बहुत सहज-सरल है, परन्तु उसका अनुवाद इतना जटिल हो गया है कि उसे समझना ही कठिन हो गया। बहुत बार ऐसा होता है कि मूल ग्रन्थ तो सरल होता है, किन्तु जो व्यक्ति उसका अनुवाद प्रस्तुत करते हैं, वह अनुवाद कठिन होता है, उसे समझना सरल नही होता। अनुवाद किया जाता है मूल ग्रन्थ को समझने के लिए, पर उस अनुवाद को समझने के लिए दूसरा अनुवाद और चाहिए और दूसरे अनुवाद को समझने के लिए तीसरा अनुवाद और चाहिए। यह है अनुवाद की कठिनता।

मूल शब्द था 'इन्द्र'। अनुवाद करने वाले ने शब्द रखा 'शत-क्रतु'। इन्द्र का पर्यायवाची नाम है 'शतक्रतु'। पर इन्द्र कहने से तो सब कोई समझ जाते, पढा-लिखा भी समझ लेता है और अनपढ भी समझ लेता है, पर 'शतक्रतु' शब्द को कौन समझेगा? शब्द भारी-भरकम बन गया, उसको समझना दुरूह हो गया। यह होता है। सहज-सरल का अनुवाद कठिन हो गया, कठिनतर हो गया।

आदमी का जीवन बहुत सरल है। उसके जीवन की आवश्यक-तायें भी बहुत सरल हैं, किन्तु उसका अनुवाद इतना जटिल हो गया कि आदमी पग-पग पर उलझ जाता है। बात समझ मे नही आती, पर यह बात तो बहुत सीधी है कि डरो मत, कभी मत डरो, इससे बीमारियां कम होगी, बुढापा जल्दी नही आएगा, मौत जल्दी नहीं आएगी। बहुत सीधा-सा गणित है। पर इस गणित को आदमी सम-झता नही। वह डरता है बीमारी से, बुढापे से और मौत से। ज्यो-

ज्यो डरता है, तीनो जल्दी-जल्दी आते है। पता नही ऐसा क्यो होता है ? वेचारे आदमी का दोष ही क्या है ? यह तो भीतर मे बैठा हुआ कोई कर रहा है।

आदमी की अन्त स्रावी ग्रन्थिया ऐसे स्राव करती है, भीतर में वैठा कर्मशरीर ऐसे रसो का विपाक कर रहा है कि वे बाहर आते है और आदमी को प्रभावित कर देते है। अन्त स्रावी ग्रन्थियो के स्राव आदमी की आदतो को प्रभावित करते है, उसकी भावदशा और कपाय को प्रभावित करते है। तीनो मूल टेम्परामेट और इमोशन उन ग्रथियो से प्रभावित होते है और इसीलिए उनसे प्रभावित आदमी सीधे गणित को भी नही समझ पाता। जब कोई किसी से प्रभावित हो जाता है फिर उसके सामने सच्चाइया कुछ भी काम नही कर सकती। अप्रभावित दशा सत्य के खोज की दशा है। आदमी अप्रभावित रहे तब तो ठीक चलता है और जब वह किसी के प्रभाव मे आ जाता है तब उसे भगवान् भी नही बचा सकता। वह ऐसा प्रभावित हो जाता है, भले फिर वह किसी वस्तु से प्रभावित हो या किसी व्यक्ति से प्रभावित हो। जब वह किसी वस्तु से प्रभावित होता है और जब तक वह वस्तु उसे नही मिलती, तब तक वह सुख से सास तक नहीं ले सकता। रात-दिन उसकी वही धुन रहती है कि 'वह चीज मिले', 'वह चीज मिले।' नही मिलती है तो चोरी करके भी उसे पाना चाहता है। यदि वह किसी व्यक्ति से प्रभावित होता है तब भी वह बिल्कुल अन्धा जैसा बन जाता है और उसके पीछे-पीछे दौडता है। यदि कोई किसी के विचारो से प्रभावित होता है तो भी यही स्थिति बनती है।

ध्यान-साधना का एक प्रयोजन है—अप्रभावित दशा का अनुभव करना, कभी किसी से प्रभावित न होना, अपनी स्वतत्रता बनाए रखना, परिस्थिति मे बह न जाना। प्रेक्षा इस दशा का निर्माण कर सकती है। जो प्रेक्षा करता है वह हर बात को गहराई मे जाकर देखेगा

और तब प्रवाहपाती होने वाली बात धुल जाएगी। आदमी प्रवाह मे सहजतया इसलिए बह जाता है कि वह ऊपर-ऊपर से बात को पकडता है। घटना को ऊपर से पकड़ता है, स्थूल रूप से पकड़ता है। आदमी व्यवहारनय पर ज्यादा विश्वास करता है, गहराई मे नही जाता, वास्तविकता तक नही जाता। वह जाता है और अनर्थ हो जाता है।

एक व्यक्ति ने गाव मे आकर कहा—कुछ जैन मुनि नहर मे पानी पी रहे थे। गाव वाले प्रभावित हो गए, प्रवाह मे बह गए। सारे गाव मे कुहराम मच गया, हो-हल्ला हो गया। 'जैन मुनि और नहर मे पानी पीए', यह कभी जैन परम्परा को मान्य नही हो सकता। साधु गाव मे पहुंचे। उन्होने देखा, कोई स्वागत नही, कोई बातचीत नही। सारे लोग साधुओ को अजनबी दृष्टि से देखने लगे। साधुओ ने सोचा, यह क्या ? श्रावक खड़े है, कोई हाथ नही जोड़ता, वदना नही करता। वे ऐसा व्यवहार कर रहे है, मानो कि हम उनके गुरु नही है। स्थान पर पहुचे। कोई प्रवचन सुनने नही आया। पूछताछ की। एक वृद्ध श्रावक सामने आकर बोला—महाराज ! आपने कितना गलत काम किया है ! गाव निकट ही तो था। आपने नहर मे पानी पी लिया ! कच्चा पानी ! इतनी भी सहनशीलता नही ! फिर आप कहते हैं कि श्रावक क्यो नही आए। कैसे आते ? साधु बोले—हमने तो नहर का पानी पीया ही नही। उसने कहा—उस व्यक्ति ने आकर कहा था। उसे पूछा। वह बोला—मैंने उससे सुना था। पूछते-पूछते उस मूल व्यक्ति तक पहुंचे, जिसने कहा था कि साधु नहर मे पानी पी रहे थे। उसे बुलाकर पूछा। उसने कहा—'मैंने अपनी आखों से देखा था कि साधु नहर मे बैठे-बैठे पानी पी रहे है।' मुनिजी को स्थिति समझने मे देर नही लगी। उन्होने कहा—श्रावको ! यह तो निगाह कर लेते कि नहर मे पानी बह रहा है या नहर सूखी है ! हमारे पास पानी था। हमने नहर मे बैठकर पानी पीया। बात मे बहुत बड़ा अन्तर आ

गया ।

सामान्यत होता यह है कि आदमी बात सुनता है और तत्काल प्रवाह मे वह जाता है । वह पूरी खोज नही करता । पूरा जानना नही चाहता । सचाई को जानने के लिए गहराई मे जाना होता है । जो व्यक्ति सचाई को जानना चाहता है, पर गहरे मे डुबकिया नही लेना चाहता, वह कभी सचाई तक नही पहुच पाता । जिन्होने सत्य का साक्षात्कार किया है वे गहरे मे उतरे है ।

प्रेक्षा गहराई मे जाने का तत्त्व है । पहले त्वचा को देखो । त्वचा मे क्या-क्या हो रहा है ? आपको लगता होगा कि त्वचा मे क्या है ? उसे क्या देखना ? वह तो सामने है । ऐसा नही है । यदि त्वचा के विषय मे पूरा शरीरशास्त्रीय विश्लेषण किया जाये तो यह ज्ञात होगा कि त्वचा के फक्शन को समझने के लिए कम से कम दस दिन का पूरा समय लगाना पडेगा । इतने काम है चमडी के । त्वचा की प्रेक्षा करो । फिर त्वचा के भीतर चलो । भीतर तो वहुत बडा खजाना है । भीतर दस प्राण हैं—प्राण की दस शक्तिया है । पांच इन्द्रियो की पाच प्राणशक्तियां, मन की प्राणशक्ति, वचन की प्राणशक्ति, शरीर की प्राणशक्ति, श्वासोच्छ्वास की प्राणशक्ति और जीवनशक्ति—ये दस प्राण की शक्तिया है । उनका अनुभव करो । प्राण के प्रकम्पनो का अनुभव करो ।

प्राण के प्रकम्पन सहजतया पकड मे नही आते । जव तक हमारा सवेदन सूक्ष्म नही वन जाता तव तक प्राणो के प्रकम्पनो को पकडा नही जा सकता । सवेदन सूक्ष्म होता है तो वे पकड मे आ जाते है । कितने प्रकार के प्रकम्पन हो रहे है ? सारे प्रकम्पन ही प्रकम्पन । कही ऐसा ठोस कुछ भी नही है जो प्रकम्पन न हो । फिर श्वास को देखना है । केवल श्वास को नही । उसके साथ प्राण भी है । श्वासप्राण श्वास का आकर्षण कर रहा है, श्वासप्राण श्वास का रेचन कर रहा

है। हमे केवल श्वास का ही अनुभव नही करना है, श्वास को सचालित करने वाली प्राणशक्ति—श्वासप्राण का अनुभव करना है। यह बहुत सूक्ष्म कार्य हो जाएगा। श्वास स्थूल है। वह हमारी समझ मे आता है। अगुली लगाई, स्पर्श हुआ, पता लग जाएगा कि कोई चीज आ रही है, जा रही है। पर यह तो कोरा श्वास हुआ। श्वास के परमाणु हुए, किन्तु उन्हे कौन ले जा रहा है, कौन ला रहा है! शरीरशास्त्रीय दृष्टि से हमारा रेस्पिरेटरी सिस्टम श्वास को कट्रोल करता है। श्वसन-नलिका के द्वारा श्वास लिया जाता है, छोडा जाता है। किन्तु यह तो शरीरशास्त्रीय मान्यता है। अध्यात्म की मान्यता है कि यह सारा कार्य श्वासप्राण के द्वारा हो रहा है। यदि श्वास का प्राण चला जाए, श्वास की प्राणशक्ति समाप्त हो जाए तो श्वास न आ सकता है और न जा सकता है, फिर चाहे शरीर विद्यमान रहे, रेस्पिरेटरी सिस्टम बना रहे।

हम बोल रहे है, भाषा निकल रही है। भाषा का रेचन हो रहा है, पर भाषा तो बोलने वाली है नही। जो बोली जा रही है वह तो है भाषा और जिसके द्वारा बोली जा रही है वह है वचनप्राण, वचन की शक्ति। वचन का उच्चारण हो रहा है इसलिए वचनप्राण है। यदि वह प्राण काम नही करता तो भाषा कुठित हो जाती, समाप्त हो जाती।

शरीर की सारी प्रवृत्तिया प्राण के द्वारा सचालित होती है। पूरे शरीर में प्राण के प्रकम्पन हो रहे है। प्रेक्षा के द्वारा उन प्राणो के सूक्ष्म प्रकम्पनो को पकडना है। शरीर मे मास है, मज्जा है, चर्वी है, वीर्य है, ओज है—इस प्रकार सात धातुएं है या धातुओ से परे ओज की शक्ति है। प्रेक्षा के द्वारा उनमे होने वाले प्रकम्पनो को पकडना, उनकी क्रियाओ को जानना आवश्यक होता है।

शरीर मे अनेक बीमारिया छिपी पडी है। कुछ जन्म ले चुकी

है, कुछ जन्म ले रही हैं और कुछ गर्भावस्था मे हैं। वे इतनी परिपक्व नही वनी है कि आपको उनका अनुभव हो सके। क्या बीमारी होते ही हमे उसी दिन पता लग जाता है ? नही, पता वहुत दिनो, महीनो या वर्षो वाद लगता है। बीमारी भीतर ही भीतर गर्भाधान मे पडी रहती है, पकती रहती है और पककर जव वह युवा बन जाती है तव वाहर प्रगट होती है। प्रेक्षा के द्वारा पता लगाया जा सकता है कि शरीर मे कहां क्या है ?

'एक्यूपंक्चर' चीनी चिकित्सा पद्धति है। उसमे सवादी केन्द्रो का वहुत सूक्ष्म विश्लेपण है। किसी के घुटने मे दर्द है। घुटने का सवादी केन्द्र है पाव के तलवे मे। पाव के तलवे के उस केन्द्र को दवाओ, यदि वहा दर्द की अनुभूति होती है तो घुटने मे भी दर्द है। उस घुटने के दर्द को मिटाने के लिए तलवे के उस केन्द्र को दबाने से वह दर्द ठीक हो जाता है। शरीर के प्रत्येक अवयव का सवादी केन्द्र पैर और हाथ मे है।

इस प्रकार शरीर मे वहुत सारी सचाइया है। गहराई मे गए विना उनका पता नही लगाया जा सकता।

प्रेक्षा के प्रयोग गहराई मे जाकर सवेदनो को पकडने और प्रकम्पनो के माध्यम से वस्तुस्थिति को जानने के माध्यम हैं।

जव हम स्थूलरूप मे शरीर को देखते है तव कुछ विशेप ज्ञात नही होता, किन्तु जव हम गहराई मे उतर कर देखते है तो ज्ञात होता है कि शरीर के भीतर सैकडो-सैकडो प्रकार की भिन्न-भिन्न श्रेणिया है। अलग-अलग मार्ग वने हुए है, प्रणालिया वनी हुई है।

नाडी का अर्थ वह नही जो हम समझते है। नाडी का अर्थ है—प्रणाली, रास्ता, राजपथ या पगडडी। हमारे शरीर मे इतनी प्रणालिया है कि बड़े से वडे नगर मे भी उतनी प्रणालिया नही हैं, रास्ते नही है। ये सारी प्रणालिया अपना-अपना कार्य व्यवस्थित रूप

से संपादित करती हैं। कोई घटना घटती है। ज्ञानेन्द्रिय के सामने आते ही वह रिफ्लेक्स होती है, प्रतिवर्त होता है। इस प्रतिवर्तवाद—(रिफ्लेक्सोलॉजी) के आधार पर मनुष्य के सारे व्यवहारो की मीमासा की जा सकती है।

इन सारी गहराइयो में जाने का माध्यम है—प्रेक्षा। यह चिन्तन भी स्वाभाविक है कि एक बार, दो बार या चार बार शरीर की प्रेक्षा या चैतन्य-केन्द्रो की प्रेक्षा कर चुकने पर बार-बार वह प्रेक्षा क्यो की जाए ? कितनी बार की जाए ? यह प्रश्न होता है, किन्तु यह जान लेना चाहिए कि प्रत्येक बात के साथ इतनी सूक्ष्मताए जुडी हुई हैं कि हम दो-चार-दस बार मे केवल कुछेक पर्यायो को ही जान पाते हैं। पर्याय अनन्त है। एक-एक तथ्य के अनन्त-अनन्त पर्याय है। अनन्त रूप है। उन्हे ज्ञात करने के लिए एक जीवन तो क्या अनेक जीवन खपाने पड़ सकते है।

प्रेक्षा की चर्चा बहुत लम्बी हो गई। पाठक को लगेगा कि यह अप्रासंगिक चर्चा है। परन्तु इस चर्चा को यहा करने का यह प्रयोजन है कि यदि प्रेक्षा को ठीक समझ लिया जाए तो आदमी उस कठिनाई से, उस तर्क से सहजतया छूट सकता है, जो तर्क हमारी बीमारीयो को पैदा करता है, बुढापे को जल्दी लाता है और अकाल मे मृत्यु को निमंत्रित करता है। उस तर्क के साथ भय जुडा हुआ होता है। वह भय यदि छूट जाए तो रोग भी हो सकता है, बुढापा भी आ सकता है, मौत भी आ सकती है, किन्तु उसके प्रारभ मे भी अभय जुडा हुआ रहेगा, मध्य मे भी अभय जुडा रहेगा और अंत में भी अभय जुड़ा हुआ रहेगा। तब न मौत का कष्ट होगा, न रोग का कष्ट होगा और न बुढापे का कष्ट होगा। उस अवस्था मे रोग और बुढापा आएगा भी तो कम मात्रा मे। उस मात्रा का पता ही नही चलेगा। भय की प्रतिक्रिया से बचने के लिए प्रेक्षा के आलवन बहुत ही महत्त्वपूर्ण साधन हैं।

भय की चौथी प्रतिक्रिया है—विस्मृति। आदमी डरता है और उसकी स्मृति कमजोर होने लग जाती है। आज बूढे नही, छोटे-छोटे किशोर आते है और स्मृति कमजोर होने की शिकायत करते है। बडा आश्चर्य होता है उनकी बाते सुनकर। अस्सी वर्ष का बूढा कहे कि उसकी स्मृति कमजोर हो गई है तो वह वात समझ मे आ सकती है, किन्तु बारह वर्ष का किशोर जब स्मृति-दौर्बल्य की वात कहता है, तब आश्चर्य होता है। इसका मूल कारण है कि भय जीवन मे इस प्रकार घुल-मिल गया है कि वह सारे दोष उत्पन्न कर रहा है। चीनी जब दूध मे घुल जाती है तब उसके स्वतंत्र अस्तित्व का पता नही चलता, किंतु पीने पर दूध की मिठास से उसके अस्तित्व को जान लिया जाता है। इसी प्रकार भय जीवन मे इतना घुल गया है कि उसको खोज निकालना कठिन है, परतु जब विस्मृति आदि को देखा जाता है तब यह निश्चित हो जाता है कि जीवन मे कोई न कोई गहरा भय व्याप्त है। भय के कारण हमारे स्मृतितंतु, ज्ञानतंतु सिकुड जाते है। उनके सिकुडने से स्मृति कमजोर हो जाती है।

भय की पाचवी प्रतिक्रिया है—पागलपन। आदमी पागल बनता है, विक्षिप्त होता है। उसके अनेक कारण हो सकते है। किन्तु सबसे बडा कारण है भय। भय के कारण पागलपन को आने मे सहज-सरल मार्ग उपलब्ध हो जाता है। कभी अकस्मात् ऐसा आघात लगता है, गहरी चोट लगती है कि आदमी सुध-बुध खो देता है। वह पागलपन की बाते करने लग जाता है। भय का आघात बहुत गहरा होता है, उससे आदमी पागल हो जाता है।

भय की ये पाच प्रतिक्रियाए बहुत स्पष्ट है। और अनेक प्रतिक्रियाए हो सकती है, पर उनका वर्गीकरण करने पर सबका समावेश इन पाचो मे हो जाता है।

भय के स्रोत, भय की परिस्थितिया और भय की प्रतिक्रियाए—

इन सबके विषय मे हमने जाना। उनका विश्लेषण भी किया। मात्र हमे यह जानना है कि भय से छुटकारा कैसे मिल सकता है ? भगवान् महावीर ने कहा—'मा भेतव्व'—डरो मत । उपनिषद् कहते है—'मा भैषी'—डरो मत । अध्यात्म की साधना करने वाले प्रत्येक साधक ने कहा—डरो मत । यह कहना तो सरल है कि कि डरो मत, पर जब तक भय के स्रोत विद्यमान है और भय की प्रतिक्रियाए अस्तित्व मे हैं तो फिर 'डरो मत' कहने का अर्थ क्या होगा ? भय की उत्पत्ति के सारे कारण जब विद्यमान है तो फिर न डरने की बात प्राप्त ही नही होती। केवल कहने मात्र से या उपदेश से भय नही छूट सकता। 'मत डरो'—यह दोहराने मात्र से भय से छुटकारा नही मिल सकता। हमे उपाय खोजना होगा। उपाय का आचरण करना होगा। उपयुक्त उपाय का अवलंबन लेने पर 'डरो मत'—इस वाक्य की सार्थकता हो सकती है। उपायो की चर्चा आगे करेगे।

०

रचनात्मक भय

दिन और रात, रात और दिन—दोनो के बीच मे संध्या। रात होती है, दिन होता है, बीच मे सध्या होती है। भय और अभय के बीच मे भी एक सध्या होती है, उसे न भय कहा जा सकता है, न अभय कहा जा सकता है। भय इसलिये नही कहा जा सकता कि भय के द्वारा नाडी-सस्थान मे जो विकृतिया पैदा होती है, भावनात्मक असतुलन पैदा होता है वह उससे नही होता। उसे शुद्ध अभय भी नही कहा जा सकता, क्योकि अभय साधना की बहुत ऊची अवस्थिति है। भय और अभय दोनो के बीच मे एक पूर्वोदय होता है, सध्या का सक्रमण होता है—वह है रचनात्मक भय। एक ध्वसात्मक भय और एक रचनात्मक भय, एक ध्वसात्मक अभय और एक रचनात्मक अभय—ये चार विकल्प बनते है। अभय भी ध्वसात्मक होता है। सारे अभय रचनात्मक ही नही होते, ध्वसात्मक भी होते है।

चोर बहुत निडर था कोई परवाह नही थी उसे। चाहे जैसी चोरी करता, दड मिलता और छूटता, फिर चोरी मे लग जाता। तनिक भी भय नही था। एक बार न्यायाधीश ने कहा—कितने निर्लज्ज हो! तुम्हे बार-बार मेरी अदालत मे आते हुए शर्म नही आती? लज्जा नही आती?

वह बोला—न्यायाधीश महोदय! मैं भी जितनी बार आता हूं आप ही को देखता हू। आप भी तो यहा रोज-रोज आते है। मुझे फिर क्या लज्जा होगी?

लज्जा, अनुशासन और मानसिक सकोच—रचनात्मक भय के

ही नाम है। रचनात्मक भय को हम लज्जा कह सकते हैं, अनुशासन कह सकते हैं, मानसिक सकोच कह सकते हैं। मानसिक सकोच है—आदमी बुरा काम नही करता। आत्मानुशासन नही बना है किन्तु फिर भी अनुशासन है। बड़े लोगो का निपेध है, ऐसा काम नही करना चाहिए। हमारे विद्या गुरुओ का निषेध है कि ऐसा काम नही करना चाहिए। बड़े-बूढे लोग कहते है कि यह काम नही करना चाहिए, इसलिए नही करता, यह भी रचनात्मक भय है, एक मानसिक लज्जा है। 'यह काम करू', कोई देख लेगा। लज्जावश भी वह कोई बुरा काम नही करता। भय है मन मे कि कोई देख लेगा। शुद्ध दृष्टि नही है, आध्यात्मिक दृष्टि नही है कि कोई देखे या न देखे, यह काम नहीं करना चाहिए। ऐसी दृष्टि नही है।

आध्यात्मिक दृष्टि वह होती है जहा यह प्रश्न नही होता कि कोई देखे या न देखे। चाहे देखे, चाहे न देखे, आध्यात्मिक दृष्टि वाला व्यक्ति वैसा आचरण नही करता।

व्यवहारिक दृष्टि वाला व्यक्ति यह जरूर सोचता है कि कोई देख न ले। कुछ आदमी इतने निर्लज्ज होते है कि वे इस बात की परवाह नही करते कि कोई देख लेगा। भले ही देखो, मेरा क्या लिया? अभय भी ध्वसात्मक हो गया। जो बडे चोर, बडे लुटेरे, बडे मार-काट करने वाले होते हैं, उनमे भी अभय तो आता है। वे डरते नही, कुछ भी करने मे सकुचाते नही, भयभीत नही होते। पर उनका अभय ध्वसात्मक अभय होता है, सही अर्थ मे अभय नही होता।

हमारे जीवन मे, जब से जीवन का प्रारम्भ होता है, बचपन से ही ये भाव निर्मित हो जाते हैं—अनुशासन का भाव और मानसिक सकोच का भाव। ये भाव बहुत बुराइयो से बचा देते है।

पूज्य कालूगणीजी से एक कहानी सुनी थी। बहुत मार्मिक कहानी है। पुराने जमाने की बात है। एक युवक ने धन-अर्जन के लिए परदेश के

लिए प्रस्थान किया। वह अपनी युवती पत्नी से बोला—धन कमाने के जा रहा हू। तुम एक बात का ध्यान रखना, कुल की मर्यादा को बराबर बचाना। शालीन रहना, ब्रह्मचारी रहना। कही कुल पर कोई दाग न लगे, धब्बा न लगे। सावधान रहना। इतने पर भी मन बडा चचल होता है, कभी किसी अवस्था मे तुम्हारा मन विचलित हो जाए और तुम कभी सहवास भी करना चाहो तो एक बात का ध्यान रखना, उस व्यक्ति को खोज लाना जो शौच के लिए सबसे ज्यादा दूर जगल मे जाता हो। पत्नी ने बात मान ली। पति चला गया। पत्नी बहुत शालीन, बहुत सयमी, हर बात का ध्यान रखती, अपनी कुल-परपरा का ध्यान रखती। बहुत वर्ष बीत गए, बहुत सावधान रही। आखिर मन की अवस्था भी एक समान नही रहती। बडे-बडे साधक, तपस्वी, दीर्घ तपस्या करने वालो का मन भी न जाने किस समय मे किस स्थिति मे चला जाता है, और मूर्च्छा किस प्रकार घनी हो जाती है, कल्पना नही की जा सकती। जीवन भर तप तपने वाले सत्तर वर्ष तक पहुचते-पहुचते मूर्च्छित हो जाते है। जीवन-भर जागरूक रहने वाले मूर्च्छित हो जाते है। पर मूर्च्छित रहने वाले मरते-मरते इतने जागरूक बन जाते है कि लोग कहते है कि आदमी ने धर्म कभी किया ही नही, धर्म का नाम नही लिया, पर अतिम दस दिन ऐसे निकाले जैसे महान् तपस्वी का जीवन हो। इस प्रकार की स्थितिया बनती है। मूर्च्छा टूटती भी है और घनी भी होती है। आश्चर्य नही है। यह एक कर्म-शास्त्रीय प्रक्रिया है, और ऐसा होता है। वह तो सामान्य युवती थी, कोई विशेष बात ही नही थी। एक दिन मन विचलित हो गया। पर भावना थी कि पति के आदेश का पूरा पालन करे। अपने नौकर को भेजा—जाओ! उस आदमी को बुला लाओ जो शौच के लिए सबसे ज्यादा दूर जाता हो।

नौकर गया। खोज-खाजकर एक आदमी को ले आया। युवती

ने बात-चीत की। प्रसंगवश पूछा—आप इतनी दूर क्यो जाते हैं ?

उसने कहा—'लज्जा बहुत आती है, बहुत सकुचाता हू। बडा सकोचशील हूं। लाज है, शर्म है।'

'इतनी दूर जाने का मतलब ?'

वह बोला—'कोई भी आदमी मेरे गुप्तांग को न देख ले। पक्षी भी न देख ले। और क्या, शौच जाता हू, पास जो सिकोरा होता है उसे भी ऐसी ओट मे रखता हू कि मेरे गुप्ताग को न देख सके। इतना लज्जालू हू। इसलिए मुझे शौच के लिए बहुत दूर जाना पड़ता है।'

युवती ने सुनकर तत्काल कहा—'ठीक है, मैंने जानना चाहा, आपने बताया, बडी कृपा की। आप अपने घर जा सकते है।'

समझ गयी मन मे। लज्जा बचा देती है। लज्जा से बहुत बडा बचाव हो जाता है।

लज्जा, मानसिक सकोच—ये सारे रचनात्मक भय है। आदमी रोग से डरता है, मृत्यु से डरता है। मै समझता हूं यह बहुत पुरानी मनोवृत्ति है। हम परिणाम से डरते है, प्रवृत्ति से नही डरते। परिणाम से डरने का कोई अर्थ नही होता। डरना चाहिए प्रवृत्ति से, न कि परिणाम से। किन्तु हमेशा मनुष्य की यह दुर्बलता रही है कि वह परिणाम से डरता है, प्रवृत्ति से नही डरता। परिणाम हो गया तो डरने का कोई अर्थ नही होता, फिर भी डरते है। और प्रवृत्ति से डरने का अर्थ होता है फिर भी नही डरते। डरना चाहिए प्रवृत्ति से।

रोग से डरते है। जिन कारणो से रोग होता है उन कारणो से नही डरते। यदि हम रोग के कारणो से भय करते हैं तो हमारा भय रचनात्मक हो जाता है। डरने का एक अर्थ रचनात्मक होता है। अधिक खाऊगा तो रोग हो जाएगा। अधिक खाने से डरे। कुपथ्य खाऊगा तो रोग हो सकता है, कुपथ्य खाने से डरे। मानसिक आवेग आएगे तो रोग हो जाएगा यानि गुस्सा करूगा तो

'हार्ट-ट्रवल' हो सकती है, रक्तचाप वढ सकता है, शरीर मे विष पैदा हो सकते है, तो क्रोध करने से डरे। रोग पैदा करने वाले कारणो से डरे तो हमारा भय रचनात्मक हो सकता है। अव रोग पैदा हो गया, उससे डरे, वीमारी पैदा हो गई, अव क्या होगा ? हे भगवान् ! कितना दु ख पाना पडेगा ? यह भय रचनात्मक नही होता। यह भय और ज्यादा वीमारी को वढा देता है, उसे और ज्यादा कठिनाई मे डाल देता है। भय को रचनात्मक वनाए। मौत से डरते हैं, मौत के कारणो से नही डरते। मौत से तो वडी घवराहट है। पर आपको यह तो पता है कि राग-द्वेष करने वाले की मौत जल्दी होती है। अकाल मृत्यु उस व्यक्ति की होती है जो अधिक राग-द्वेप करता है। जिसमे प्रिय-अप्रिय का सवेदन ज्यादा होता है, वह अकाल मृत्यु को प्राप्त होता है। अधिक आहार, वहुत ज्यादा खाना, वहुत ज्यादा नीद लेना, वहुत ज्यादा प्रमादी होना, वैठे ही रहना, वहुत आवेगशील होना, अधिक अहकार, अधिक गुस्सा, ईर्ष्या की भावना, द्वेष की भावना, मानसिक जलन—ये सारे अकाल मृत्यु के कारण है। इन अकाल-मृत्यु के कारणो से तो नही डरते और मौत से डरते है। रचनात्मक भय वह होता है कि हम मृत्यु को असमय मे लाने वाली प्रवृत्तियो से डरे। उनके प्रति जागरूक रहे, सावधान रहे कि हमारी मृत्यु जल्दी न आ सके। हमारा भय तव रचनात्मक हो जाता है।

अकीर्ति का भय हर आदमी को लगता है। उसका अपयश न हो, अकीर्ति न हो। आदमी डरता है, वहुत सावधान रहता है, किन्तु अकीर्ति पैदा करने वाले कारणो से भय नही है। वडी विचित्र वात है। आचरण और व्यवहार तो वैसे है कि जिनसे अकीर्ति पैदा हो। भय इस वात का है कि अकीर्ति हो नही। आचरण भले ही अकीर्ति लाने वाले हो, किन्तु अकीर्ति हो नही—इस वात का भय है। हमारा यह भय व्यर्थ का भय हो जाता है। यदि हम प्रवृत्ति से वचें, अकीर्ति

लाने वाले कारणो से वचे तो हमारा भय रचनात्मक वन जाता है।

भय को रचनात्मक वनाने के लिए एक सूक्ष्म भेद-रेखा पर भी हमे ध्यान केन्द्रित करना होगा। और वह सूक्ष्म भेद-रेखा यह है कि भय से सुरक्षा रखना और भय के कारणो से वचना दोनो एक वात नही हैं। दो वाते है। एक भय और एक, सावधानी वरतना कि भय पैदा न हो, एक वात नही है। यदि हम मान ले कि भय बुरा है तो सारी सुरक्षात्मक व्यवस्था ही लड़खड़ा जाती है। व्यक्ति की सुरक्षा, परिवार की सुरक्षा, समाज की सुरक्षा और राष्ट्र की सुरक्षा—सारी सुरक्षात्मक व्यवस्थाएं अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। सुरक्षात्मक व्यवस्था के लिए भय होता है, किन्तु वह रचनात्मक भय होगा, ध्वसात्मक नही होगा। उसमे सूक्ष्म भेद-रेखा है कि सुरक्षा के लिए यह सव कुछ हो रहा है, किसी ध्वस के लिए नही हो रहा है।

सामने आग है। व्यक्ति आग पर अपना पैर नही रखता। भय तो मान सकते है कि व्यक्ति इस भय से पैर नही रख रहा है कि पैर रखने पर जल जाएगा। भय तो मान सकते है किन्तु वह भय विध्वसात्मक भय नही है, रचनात्मक भय है, सुरक्षात्मक भय है।

एक व्यक्ति से पूछा, जो वर्फ का कारखाना चला रहा था, आप जाडे के दिनो मे क्या करते है ? गर्मी के दिनो मे तो वहुत वर्फ पैदा होती है। वर्फ खूव चलती है। पर सर्दी के दिनो मे आप क्या करते है ?

उत्तर दिया—गर्मी के दिनो मे वर्फ वनाता हूं और सर्दी के दिनो मे वर्फ खाता हूं।

विल्कुल ठीक उत्तर था। सर्दी के दिनो मे कारखाना तो नही चलता, पर गर्मी के दिनो मे जो आय होती है, वह सर्दी के दिनो मे बैठा-बैठा खाता हूं। गर्मी मे वर्फ वनाता हूं और सर्दी मे वह मुझे वचाती है, मेरी रक्षा करती है। आदमी सुरक्षात्मक उपाय तो करता

ही है और उस सुरक्षात्मक उपाय को ध्वसात्मक नही कहा जा सकता। सुरक्षा है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको भय और भय के साधनो से, निमित्तो से बचाता है। कोई भी समझदार आदमी जान-बूझकर साप पर पैर नही रखता। कोई भी आदमी जान-बूझकर विष नही खाता। इस सुरक्षात्मक उपाय को ध्वसात्मक भय नही मान सकते। यह रचनात्मक भय हो जाता है और यह भय और अभय के बीच की सध्या बन जाती है।

मुझे याद है अपने जीवन की एक घटना। मैं तेरह वर्ष का था। पूज्य कालूगणीजी मोमासर मे विराज रहे थे। मैं और मेरे सहपाठी मुनि बुद्धमलजी दोनो पूज्य कालूगणीजी की उपासना मे थे। पूज्य कालूगणीजी ने हमे यह दोहा सिखाया—

'हर डर, गुरु डर, गांव डर, डर करणी में सार।
तुलसी डरै सो ऊबरै, गाफिल खावै मार॥'

आपने अर्थ बताते हुए कहा—हर डर अर्थात् भगवान् से डरो, गुरु डर—गुरु से डरो, गाव डर—गाव से डरो, डर करणी मे सार—भय निकम्मा नही है, भय मे बहुत सार है, सारभूत वस्तु है। तुलसी डरै सो ऊबरै, गाफिल खावै मार। जो डरता है वह बच जाता है, जो नही डरता वह मार खाता है।

हमने सोचा बहुत काम की बात बताई। मुनि तुलसी के पास पढते हैं और तुलसी से वैसे ही बहुत डरते है। पूज्य कालूगणी ने भी कह दिया—तुलसी डरै सो ऊबरै—तुलसी से डरता है, उबर जाता है। और गाफिल मार खा जाता है। हमे नही पता था कि तुलसी का मतलब सत तुलसीदास से है। तुलसीदास का यह दोहा है। हमने यही समझा और वर्षों तक यही समझते रहे कि तुलसी (मुनि तुलसी) से डरने वाला उबर जाता है और जो तुलसी से नही डरता वह मार खाता है। मैं समझता हूं इस दोहे ने मेरे और मेरे सहपाठी बुद्धमल्ल—

दोनों के जीवन का निर्माण किया।

मैं यह मानता हूं कि जो भय रचनात्मक होता है, वह जीवन का निर्माणकारी होता है। मै जो सारी चर्चा कर रहा हूं कि अभय बनो, डरना नही है, भय से मुक्त होना है, उसका तात्पर्य है ध्वंसात्मक भय से बचे। मै शुद्ध अभय की चर्चा भी करना चाहता हू। हमे शुद्ध अभय बनना है। अभय की भूमिका तक पहुंचना है और उस भूमिका तक पहुंचना है जहा शुद्ध आध्यात्मिक चेतना जाग जाए, सारे भय विलीन हो जाएं। हमारी सारी प्रेरणाए, अन्त.प्रेरणाएं ये सारी की सारी अध्यात्म मे से स्फूर्त हो कही भी बाहर से प्रभावित न हो। सारी उद्दीपक सामग्रिया, सारे निमित्त और सारे हेतु विलीन हो जाए। अध्यात्म चेतना के द्वारा हमारे जीवन का क्षण-क्षण सचालित हो। उस भूमिका पर हमे पहुचना है, किन्तु बचपन को भी मैं जानता हू, यौवन को भी और प्रौढता को भी मैं जानता हू। अभी हम बचपन की भूमिका मे जी रहे हैं और वहा आध्यात्मिक प्रेरणा की बात करू तो स्वाभाविक नही होगी, प्रासगिक नही होगी। प्रासगिक यही है कि उस बचपन की भूमिका मे रचनात्मक भय का आलम्बन होता है, यौवन की अवस्था मे—जो साधना का यौवन है उसमे रचनात्मक भय से भी ऊपर उठकर और शुद्ध अभय की भूमिका मे आरोहण कर देते है। और जब अध्यात्म के शिखर पर हमारे पैर, हमारे चरण सचालित होते है वहां शुद्ध अध्यात्म की चेतना जाग जाती है, भय-सर्वथा समाप्त हो जाता है और केवल बचता है अभय, अभय की मुद्रा, अभय का हाव-भाव, अभय की अन्त स्रोतस्विनी, सब कुछ अभय ही अभय। **'सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अपमत्तस्स णत्थि भयं'**—प्रमादी के लिए सब ओर से भय होता है, अप्रमादी के लिए कही भी नही होता।

सभी लोग अभय की चेतना को जगाना चाहते है। पर प्रश्न है, यह कैसे जागे ?

हमारे शरीर मे दो तन्त्र है—एक नाडी-सस्थान और दूसरा ग्रन्थि-सस्थान। हमारा सारा जीवन उनके द्वारा, नाडी-संस्थान और ग्रन्थि-सस्थान के द्वारा सचालित है। वाहर की परिस्थिति और आंतरिक रसायन—इनसे हम प्रभावित होते है। यद्यपि यह माना जाता है कि जैसी परिस्थिति होती है वैसा आदमी बन जाता है, यह सचाई भी हो सकती है किन्तु यह अधूरी सचाई है। पूरी सचाई यह है कि परिस्थिति और रसायन दोनो का योग होता है, वैसा आदमी वनता है। परिस्थिति को परिष्कृत करने के उपाय भी हम करते है। परिस्थिति को वदलने के उपाय भी करते है, किन्तु काम वनता नही। जव तक भीतरी रसायनो को वदलने का काम नही होता तब तक पूरा काम नही होता। हम ज्यादा प्रभावित है अपने भीतरी रंसायनो से, हमारे अन्तर् से स्रवित होने वाले रसायनो से और वे रसायन बदलते है, प्रभावित होते है तो हम परिस्थिति को लाघकर भी जा सकते हैं, उसका अतिक्रमण भी कर सकते है। और जव वे रसायन अनुकूल नही होते तव परिस्थिति भी हमे प्रभावित कर सकती है, वाधित कर सकती है। प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास करने वाले व्यक्ति इस सचाई का अनुभव करे और रसायनो को वदलने का उपक्रम करे। आज इस वैज्ञानिक युग मे ध्यान करना केवल अधकार मे ढेला फैंकना नही होना चाहिए। इतना विज्ञान का विकास हो चुका है, उसके सदर्भ को छोड़कर और केवल अन्धेरे मे चलते चले, चलते चले और सन्तोष मानते जाए, यह सभव नही लगता। कल ही हमारी प्रोफेसर शर्मा से वाते हो रही थी। वे एन० सी० ई० आर० टी० मे एजूकेशनल साईकोलोजी के प्रोफेसर एव हैड है। डाक्टर टी० भाटिया भी थे। वात चली। उन्होने कहा कि ध्यान के वारे मे हमारे सामने कई स्थितिया आती है और अधिकाश परिणाम की वात यह आती है कि तापमान कम हो गया, व्लड-प्रेसर की वीमारी ठीक हुई, वजन घटा या वढा, इस प्रकार के परिणाम

सामने आते हैं। मैंने कहा—हम लोग ध्यान को चिकित्सा का साधन नही मानते। हम शिविर को चिकित्सालय नही मानते। हम स्वीकार करते हैं कि रोग भी ठीक होता है, शारीरिक वीमारी ठीक होती है, किन्तु इसे गौण मानते है। हमारा मुख्य उद्देश्य है भाव-परिवर्तन। जव तक भाव-परिवर्तन नही होता तव तक ध्यान की निष्पत्ति हमारी दृष्टि में नही है। हमारे भाव वदलने चाहिएं। हिंसा के भाव, उद्दंडता के भाव, उच्छृंखलता के भाव, क्रूरता के भाव—हमारे जो भाव हैं, वे भाव वदलने चाहिये। अगर भाव मे परिवर्तन नहीं होता है तो मैं समझता हूं कि ध्यान की निष्पत्ति पूरी नही होती। उपायो के द्वारा भाव-परिवर्तन किया जा सकता है। ध्यान की ऐसी पद्धतिया हैं, जिनके द्वारा भाव का परिवर्तन किया जा सकता है। ज्योतिकेन्द्र पर ध्यान होता है, क्रोध का भाव वदल जाता है। दर्शनकेन्द्र पर ध्यान होता है, मोह का भाव वदल जाता है, अन्तर्दृष्टि जाग जाती है। हमारा 'फ्रन्टल लोव' इतना महत्त्वपूर्ण है कि वह सारे भावो का नियन्त्रण कर रहा है। हमारे सारे भावो का नियन्त्रक है—हाइपोथेलेमस। हाइपोथेलेमस पीनीयल और पिच्यूटरी पर नियन्त्रण कर रहा है। पिच्यूटरी सारी ग्रन्थियो पर नियन्त्रण कर रही है। हमे भाव-परिवर्तन की प्रक्रिया मे जाना है तो मस्तिष्क के अगले हिस्से पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। इस पर ध्यान केन्द्रित किए बिना भावो को नही वदला जा सकता। यदि नाभि पर ध्यान केन्द्रित करते है, तैजसकेन्द्र पर ध्यान करते हैं तो उत्तेजना वढती है, प्राणशक्ति वढ़ती है इसमे कोई सन्देह नही। प्राण-विद्युत् का विकास हो सकता है किन्तु साथ-साथ मे आवेगो का विकास भी हो सकता है। एड्रीनल का काम है सारे आवेगों को जन्म देना।

इन सारी वृत्तियो, संज्ञाओ और आवेगो पर नियन्त्रण पाया जा सकता है। शान्ति-केन्द्र, ज्योति-केन्द्र और दर्शन-केन्द्र—भृकुटि से

लेकर सिर के अगले भाग तक जो ये तीन केन्द्र हैं ये सारे भाव-परिवर्तन के लिए जिम्मेदार हैं। बुरे भाव होते हैं तो यही से स्रवित होते हैं, अच्छे भाव पैदा होते हैं तो यही से स्रवित होते है। हम मानते हैं कि बुरे भावो को वदला जा सकता है। लेश्या-ध्यान जैन साधना पद्धति की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। रंगो का विभिन्न प्रकार से ध्यान करने पर विभिन्न प्रकार के मनोभाव बदल जाते हैं। 'कलर थेरापी' ने आज रंगो के महत्त्व पर बहुत प्रकाश डाला है। विदेशो मे इस पर वहुत काम हो रहा है और वहुत साहित्य निकल रहा है। हमारे यहां प्राकृतिक चिकित्सा मे भी रग-चिकित्सा, सूर्य-रश्मि-चिकित्सा का स्थान है। किन्तु ध्यान की प्रक्रिया के साथ लेश्या-ध्यान और रगो के ध्यान की प्रक्रिया का प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति मे जो विकास हुआ है, उसे मैं बहुत महत्त्व देता हू। प्रेक्षा-ध्यान के सारे प्रयोग अभय की चेतना को जगाने के प्रयोग है। ०

अभय की मुद्रा

कुछ वाहर मे होता है कुछ भीतर मे होता है। हम वाहर और भीतर—दो हिस्सो मे वटे हुए हैं। वाहर का स्पष्ट दीखता है, भीतर का दीखता नही, अनुभव होता है, पता चलता है। हमारी मुद्रा होती है वाहर मे। कैसे वैठते है, हाथ कैसे है, मुह कैसे है, आकृति कैसी है, व्यंजना कैसी है, अगुलिया कैसी हैं—ये सारी वातें मुद्रा से सम्वन्ध रखती है। एक होती है भाव-मुद्रा और दूसरी होती है भाव-धारा। दोनो मे वहुत गहरा सम्वन्ध है। जैसी भाव-धारा होती है वैसी भाव-मुद्रा वन जाती है। मुद्रा का निर्माण करती है भाव-धारा। क्रोध का भाव जागा, क्रोध की मुद्रा वन जाएगी। वताना नही पडता, आदमी क्रोध मे है। मुद्रा देखते ही पता चल जाता है कि अभी क्रोध मे है। स्वयं मुद्रा सूचना दे देती है।

काव्य-शास्त्र मे इस भाव-धारा का वहुत विशद् विवेचन हुआ है। तीन भावधाराए है—स्थायीभाव, सात्विकभाव और सचारीभाव। किस मुद्रा मे कौन से भाव जन्म लेते है? व्यक्ति किस रूप मे प्रकट होता है? यह सारा ज्ञात हो जाता है। शृगार-रस की एक मुद्रा होती है, करुण-रस की दूसरी मुद्रा होती है, विभत्स-रस की तीमरी मुद्रा होती है, रौद्र-रस की चौथी मुद्रा होती है, शात-रस की पाचवी मुद्रा होती है। अलग-अलग मुद्राएं होती है। प्रत्येक भाव और प्रत्येक रस की भिन्न मुद्रा होती है। रसानुभूति, भावानुभूति और मुद्रा, सव जुडे हुए है। हमारी मुद्रा का सम्वन्ध भाव से जुड़ा हुआ है। भय की भाव-धारा होती है तो एक प्रकार की मुद्रा वनती है। डरा हुआ आदमी

सिकुड जाता है। चेहरा सिकुडता भी है और फैलता भी है। हमारा शरीर सिकुडता भी है और फैलता भी है। भय से सिकुडता है और हर्ष से फैल जाता है। हर्षोत्फुल्ल मुख फूल की भाति खिल जाता है, भयभीत मुख बिल्कुल सिकुड जाता है। ऐसा लगता है कि बिल्कुल पतला-दुबला हो गया है। भय की मुद्रा होती है, उस समय बाहर आकृति मे जो परिवर्तन होते है वे हमारे सामने स्पष्ट होते है। अन्तर् के अवयवो मे भी परिवर्तन होते है। हृदय की धडकन तेज हो जाती है, रक्तचाप बढ जाता है, गला सूख जाता है, लार टपकाने वाली ग्रन्थिया निष्क्रिय बन जाती है। मुख सूखने लग जाता है। आमाशय और आते सिकड जाती है, भूख भी कम हो जाती है। जो आदमी रोज डरा-डरा रहता है उसकी भूख भी कम हो जाती है। त्वचा की संवाहिता मे अन्तर आ जाता है, त्वचा सूक्ष्मग्राही बन जाती है।

किसी आदमी ने झूठ बोला, किसी ने अपराध किया, न्यायाधीश के सामने उपस्थित किया। उसे डर है कि मेरा झूठ पकडा न जाए। अब न्याय करने वालो को कैसे पता चले कि यह झूठ बोल रहा है? उन्हे कैसे पता चले कि इसने अपराध किया है? आजकल कुछ यन्त्रो का विकास हुआ है। अपराधी खडा है और यन्त्र चल रहा है, गेल्वेनोमीटर की सूई घूम रही है। यन्त्र लगा दिया गया है। अब उसके मन मे है, कही पकडा न जाऊ। भय से उत्तेजना है अन्तर् अवयवो मे। उत्तेजना पैदा हो गयी। वह गेल्वेनोमीटर बता देगा कि यह झूठ बोल रहा है। वह बता देगा कि इसने अपराध किया है। यह सारा होता है त्वचा-सवाहिता के द्वारा। त्वचा-सवाहिता का मापन होता है और इस सचाई का पता है चल जाता है। क्रोध का सवेग, भय का संवेग या दूसरा किसी भी प्रकार का सवेग हो, सवेग की अवस्था मे हमारी बाहर की मुद्रा भी भिन्न बनती है और भीतर की मुद्रा भी भिन्न बन जाती है। दोनो का पता लगाया जा सकता है। एक आदमी

और अभय उपादेय । हमे भय की भावधारा को त्यागना है और अभय की भावधारा को विकसित करना है । इसके लिए तीन साधन अपेक्षित है—उपाय, मार्ग और साधन । अभय का विकास उपाय के विना सभव नही, मार्ग और साधन के बिना सभव नही । खोज होगी उपाय की, मार्ग की और साधन की ।

एक उपाय है—अनुप्रेक्षा । अनुप्रेक्षा के द्वारा अभय की भावधारा को विकसित किया जा सकता है । शब्द की प्रणालिया हमारे शरीर के भीतर बनी हुई है । ये रास्ते, पगडडिया, राजपथ हमारे शरीर मे बने हुए है, जिनके माध्यम से तरगे हमारे पूरे शरीर मे व्याप्त हो जाती हैं और वे हमे प्रभावित करती है । तरग का सिद्धान्त बहुत व्यापक सिद्धान्त है । 'क्वान्टम थ्योरी' का विकास हुआ तब से नही, किन्तु ढाई हजार, तीन हजार वर्ष पहिले से यह प्रकम्पन का सिद्धान्त प्रस्थापित है कि संसार मे सब कुछ प्रकम्पन ही प्रकम्पन है, सव कुछ तरग ही तरग है । भय की तरग उठी और भय के प्रकम्पन शुरू हो गए । यदि उस समय अभय की तरग को उठा सके, अभय के प्रकम्पनो को पैदा कर सके तो भय की तरग वही समाप्त हो जाएगी । यह अनुप्रेक्षा का सिद्धान्त उस प्रतिपक्ष का सिद्धान्त है कि एक तरग के द्वारा दूसरी तरग की शक्ति को निरस्त किया जा सकता है और अच्छी तरग को उठाया जा सकता है, बुरी को निरस्त किया जा सकता है । बुरी तरग को पैदा किया जा सकता है, अच्छी तरग को निरस्त किया जा सकता है । हमारे पुरुषार्थ पर, हमारे ग्रहण पर और हमारी दृष्टि पर यह निर्भर है कि हम किस समय क्या करते है और कैसा हमारा प्रयत्न होता है ? जिस व्यक्ति ने प्रेक्षा ध्यान का प्रयोग किया है, जिसने इस सचाई को समझा है कि शुभभाव की तरग के द्वारा अशुभ भाव को तरगो को, विधायक तरगो के द्वारा निषेधक तरगो को नष्ट किया जा सकता है, वह इसके लिए बहुत जागरूक हो जाता है कि जब भी मन

मे कोई बुरा विकल्प उठे, मन मे बुरा विचार आए, तत्काल शुभ भाव की नरग को पैदा कर दे ।

तीन अवस्थाए होती है । एक है असत् भाव की अवस्था दूसरी है सत् भाव की अवस्था और तीसरी है—सत्-असत्—दोनो भावो से अतीत अवस्था । एक है असत् भाव की अवस्था जो 'नेगेटिव' है । दूसरी है सत् भाव की अवस्था जो विधायक भाव की अवस्था है और तीसरी दोनो से परे जिसमे न कोई निषेधात्मक भाव है, न कोई विधायक भाव है, निर्विकल्प और निर्विचार अवस्था । यह बहुत सुन्दर अवस्था है, बहुत आगे की बात है । किन्तु सामान्यत. हमारा जीवन इन असत् और सत् की भावधाराओ के बीच मे चलता है । कभी असत् की तरग उठती है तो कभी सत् की तरंग उठती है । जैसे हमारी भाव-क्रिया प्रबल होती है, जैसे-जैसे हमारा वर्तमान मे रहने का अभ्यास शक्तिशाली बनता है, जैसे-जैसे हम प्रेक्षा के प्रति सावधान और जागरूक होते हैं और निरतर जागरूकता का अभ्यास करते है वैसे-वैसे ही मस्तिष्क मे उठने वाली अशुभ भाव की तरगो का पता लगने लग जाता है कि अब अशुभ भाव की तरंग उठ रही है । उस समय तत्काल शुभ भाव की तरग पैदा कर कर देते है । अनुप्रेक्षा शुरू कर देते हैं तो अशुभ भाव की तरग दब जाती है, शात हो जाती है ।

अनुप्रेक्षा का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है असत् से बचने के लिए। सारा जप का विकास इसी आधार पर हुआ है । अनुप्रेक्षा के सिद्धात के आधार पर जप का विकास हुआ है । इष्ट का जप करो, मन्त्र का जप करो, क्योकि शुभ भाव और शुभ विचार तुम्हारे मन मे रहेगा तो अशुभ भाव को जगाने का मौका नही मिलेगा । इसलिए मन्त्र का आलम्बन लिया गया । कुछ लोग अध्यात्म साधना के क्षेत्र मे मन्त्र की उपयोगिता नही मानते । पर हमारा विश्वास है कि मन्त्र की भी बहुत उपयोगिता है, उसे नकारा नही जा सकता, अस्वीकार नही किया जा

सकता, क्योकि हम सीधे वीतराग तो बन नही सकते। सीधे छलाग वाली बात बहुत कम घटित होती है। कोई व्यक्ति ऐसा हो सकता है कि सीधी छलाग लगा सकता है। कोई-कोई ऐसा हो सकता है कि छत पर से सीधी नीचे छलाग लगा सकता है पर हर कोई लगाने लग जाए तो फिर सीढियो की जरूरत ही क्या है ? फिर सीढिया लगानी निरर्थक है। जब सब छलागे लगाने लग जाएगे तो शायद हॉस्पीटल मे स्थान भी खाली नही मिलेगा। बडी मुसीबत पैदा हो जाएगी। छलाग की बात सार्वजनिक बात नही हो सकती। कदाचित् हो सकती है, अपवादस्वरूप हो सकती है। सीधे वीतरागता की भूमिका मे चले जाने की बात एक छलाग की बात है। हमे सीढियो के सहारे चलना पडेगा। आदमी सीढी के सहारे चढेगा, ऊपर पहुचेगा। सीढियो मे दोनो बाते होती है। एक ही सीढी बनी हुई है। उससे ऊपर भी चढा जा सकता है, नीचे भी आया जा सकता है। ऐसा नही होता कि ऊपर जाने के लिए सीढिया अलग बनती है और नीचे आने के लिए सीढिया अलग बनती है। उसी सीढी से ऊपर चढा जा सकता है और उसी सीढी से नीचे आया जा सकता है। हमारी एक ही भावधारा है। उसी भावधारा से ऊपर चढा जा सकता है और उसी भावधारा से नीचे उतरा जा सकता है। हमारी भावधारा जब सत् के साथ जुडती है तब हम ऊपर चढ सकते हैं, हमारा आरोहण हो सकता है। ज्योही भावधारा असत् के साथ जुडती है तब अवरोहण शुरू हो जाता है, आदमी नीचे उतर आता है। जप का विकास, मन्त्र का विकास, इसी भावना पर हुआ था कि एक ऐसा आलम्बन बना रहे जिससे बुरे भावो को आने का अवसर कम से कम मिले।

अभय का दूसरा साधन है—प्रेक्षा। जैसे-जैसे देखने की शक्ति का विकास होता है, हमारी दृष्टि सत्यग्राही बन जाती है। डर जितना भी लगता है वह असत्य के कारण लगता है। चाहे असत्य मान्यता,

असत्य का सिद्धात, असत्य की धारणा, असत्य का सकल्प—जो भी असत्य का पक्ष है वह सारा भय पैदा करने वाला है। जैसे-जैसे दर्शन की शक्ति विकसित होती है और सचाई के निकट जाते हैं, कल्पनाओ से दूर हटते है, हमारी शक्ति वढती जाती है और भय अपने आप कम होता जाता है। यथार्थ मे भय होता नही। भय मूर्च्छा मे होता है, असत्य मे होता है। प्रेक्षा के द्वारा हमारी मूर्च्छा का चक्र टूटता है और जव मूर्च्छा का चक्र टूटता है तो भय अपने आप समाप्त हो जाता है।

प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा, मन्त्र का जप—ये सारे साधन विकसित हुए अभय के विकास के लिए। प्रत्येक परम्परा मे—जैन परम्परा, वैदिक परम्परा, वौद्ध परम्परा—सवमे भय का निवारण करने वाले मन्त्रो का विकास हुआ और वहुत सारे मन्त्र जपे जाते है भय को दूर करने के लिए। कुछ लोग सोते-सोते डर जाते है, कुछ लोग रात को डरावने स्पप्न देखते है, डर जाते हैं। कुछ लोग अकारण ही डर जाते हैं। इन अवस्थाओ के वचने के लिए सैकडो-सैकडो 'अभय मन्त्रो' का विकास हुआ और उनका प्रयोग भी वहुत होता है, परिणाम भी आता है और मन:स्थिति वदल जाती है। औपधियो का विकास भी हुआ है। ऐसी भी औषधिया है, जड़िया है, कितना भी भय लगे, जडी सिरहाने रख दो, भय लगना वन्द हो जाएगा। वुरे स्वप्न आते हो, डरावने स्वप्न आते हो, उस जडी को सिरहाने रख दो वुरे स्वप्न आने वन्द हो जाएगे। जड़ियो का विकास, मत्रो का विकास और प्रयोग इस दिशा मे हुआ और उसके परिणाम भी अच्छे आए।

अभय का एक और महत्त्वपूर्ण उपाय है। उसका सम्वन्ध है हमारे चरित्र से, व्यवहार से। भय पैदा होता है हिंसा से, असत्य से और सग्रह से। ये तीन वड़े कारण है जो हमारे चरित्र से सम्वन्ध रखते है। हर आदमी अनुभव करता होगा कि सग्रह के कारण कितना

भय पैदा होता है ? बाहर गया और ध्यान आया कि कमरे के तो ताला ही नही लगाया है, अल्मारी खुली रह गयी है, वह बीच मे ही दौड पडता है वापस। कही कोई पहिले न पहुच जाए ! कोई बाहर से ही नही, घर का आदमी भी भीतर न घुस जाए। वह डर जाता है। लौटता है और सभालता है। क्यो डरा ? कोई डराने वाला तो नही था। किन्तु सग्रह के प्रति इतनी घनी मूर्च्छा है कि अर्जित किया है उसमे एक राई भर भी, पाई भर भी कम न हो जाए। बहुत लोग शायद अपनी सपत्ति का उपयोग भी नही करते, किन्तु दीपावली, रामनवमी या जो-जो अपना एक समय है वर्ष का लेखा-जोखा करने का, तो खाते तो देखते है कि पास मे इतनी पूजी जमा है तो इतने गहरे हर्ष का अनुभव होता है कि शायद जीवन मे कभी नही होता, बहुत सन्तुष्टि मिलती है। बस, उतनी-सी सन्तुष्टि कि मेरे पास है। इसका आगे कोई अर्थ नही, पीछे भी कोई अर्थ नही, कोई उपयोग नही, किन्तु 'मेरे पास है' यह भाव ही इतना प्रफुल्ल बना देता है आदमी को कि वह सब कुछ मान लेता है। और वही भाव कि 'मेरे पास है', आदमी मे इतना भय पैदा करता है कि रात्त और दिन भय से आक्रान्त होता है। मुनीम धोखा न दे दे, पार्टनर धोखा न दे दे, नौकर और कर्मचारी धोखा न दे दे, भाई धोखा न दे दे, बाप धोखा न दे दे। निरन्तर यह भय सताता रहता है। एक मानसिक तुष्टि है कि 'मेरे पास है' और मेरे पास जो है वह कही चला न जाए, यह भय भी रहता है। शायद मानसिक तुष्टि तो कभी-कभी होती है पर भय का भाव तो चौवीस घटो ही बना रहता है। सग्रह भय का सबसे बड़ा निमित्त है।

असत्य भय का बहुत बडा निमित्त है। झूठ बोलते समय तो शायद एक मिनिट लगता है। आदमी एक मिनिट मे झूठ बोल देता है। किन्तु झूठ बोलने के बाद, कई दिनो तक भय नही मिटता कि

कही पता न लग जाए, सरक्षक को पता न लग जाए, हमेशा भय वना रहता है मन मे।

हिंसा भी भय की भावना है। हिंसा, असत्य और सग्रह—जव तक इनमे, इनके प्रति आसक्ति मे, कमी नही होती, अभय की अनुप्रेक्षा कर लेने पर भी अभय का विकास हो जाए, इसमे मुझे सन्देह है। थानि रचनात्मक अभय का विकास नही हो पाता, ध्वसात्मक अभय का तो हो सकता है। इतना निडर वन जाए कि किसी से भी नही डरता, यह तो हो सकता है और अनर्थकारी भाव पैदा हो सकता हे। किन्तु रचनात्मक अभय पैदा हो जाए इसमे मुझे संदेह है। मैंने दो दिन मे वावा नागपाल से वहुत वाते कीं। मैंने एक विचित्र वात देखी कि शक्ति की उपासना है, सव कुछ है फिर भी एकमात्र स्वर हैं चरित्र का। चरित्र का विकास होना चाहिए। इसके सिवा दूसरी वात ही नही है। कहते है कि मैं तो किसी को भी न तो तावीज देता हू, न गडा देता हूं, कुछ भी नही। सवको कहता हू आहार शुद्ध करो, व्यवहार शुद्ध करो। इसके विना कुछ भी नही होगा। वहुत वडी वात कहते है।

जैन-परम्परा मे एक आचार्य हुए है—आनन्दघनजी। वहुत वडे साधक थे गुजरात के। वहुत वड़े योगी। इतनी सिद्धिया उन्हें प्राप्त थी कि लोग पीछा नही छोडते थे। जहां जाते भीड इकट्ठी हो जाती। राजा, प्रजा सव लोग इकट्‌ठे हो जाते। पता चला कि आनन्दघनजी के पास तो स्वर्ण-सिद्धि है, सोना वनाने की सिद्धि है, हजारो लोग उनके पास आने लगे। भीड़ बनी की वनी रहती। आराम लेने को क्षण भी नही मिलता। हर कोई चाहता कि मुझे सोना मिले, मैं सोना वना लू। वड़ी मुसीबत हो गयी। वे जगल मे चले गये, फिर भी लोग पीछे लगे रहे। कोई आदमी आता कि महाराज, लड़का नही है, कोई कहता धन नही है, इस प्रकार सैकड़ो-सैकड़ो समस्याए लेकर लोग आते। क्या

करे ? पीछा छुडाने के लिए कुछ लिखकर देते और कहते—देखो, इस पुडिया को खोलना मत । साथ-साथ जो मै कहू, उस पथ्य का पालन भी करना । जव आदमी स्वीकार कर लेता, तव कहते—देखो ! अगर तुम सफलता चाहते हो तो छह महीने तक या बारह महीने तक तुम झूठ नही वोल सकते । अब्रह्मचर्य का सेवन नही कर सकते, चोरी नही कर सकते । इस प्रकार पाचो अणुव्रतो की दीक्षा दे देते—अहिसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का अणुव्रत । ध्यान रखना, अगर इसमे चूक हुई तो तुम्हारा काम नही होगा । अगर इसमे चूक न हो तो मेरे पास आ जाना । अव छह महीने, बारह महीने मे भावना पूरी हो जाती । वह आता और कहता—महाराज ! आपने बडी कृपा की । मेरा काम सफल हो गया । वे हसते और कहते—सफल किससे हुआ । मैने तो सिर्फ लिखा था—'तुम जानो तुम्हारा भाग्य जाने, मुझे क्या लेना देना ।' इससे तुम्हारा काम हो गया । तुमने स्वय चरित्र का पालन किया, स्वय व्यवहार का परिष्कार किया, स्वय ने आहार की शुद्धि की और काम वन गया ।

काम करने वाली शक्ति तो हमारी चरित्र की शक्ति है, हमारे चरित्र का वल है और वह वल जैसे-जैसे वढता है, आदमी मे अभय का विकास होता है । जव अभय का वल वढता है तो अनेक मनोकामनाए मनुष्य की, जाने-अनजाने मे पूरी हो जाती है । मनोकामना की पूर्ति मे सवसे वडी वाधा भय है, सवसे वडी वाधा आशका है और सवसे वडी वाधा सदेह है । कोई काम शुरू करते है कि यह काम मेरा होना चाहिए, तत्काल मन मे आता है—अरे भई ! मैने सोचा तो है पर होगा या नही होगा ? क्या यह हो जाएगा ? दसो लोगो से पूछता है, मैने यह वात सोची है, क्या पूरी हो जाएगी ? मन मे सदेह, मन मे आशका, मन मे दुर्वलता और कभी भय भी लगने लग जाता है कि मैने यह वात कह तो दी लोगो को, अगर पूरी नही हुई तो वड़ी भद्दी लगेगी । भय से

घिरा हुआ आदमी, आशंका से घिरा हुआ आदमी असफल तो पहले कदम मे ही हो जाता है। फिर उसे क्या सफलता मिलेगी ?

सफलता का सबसे बडा सूत्र होता है—चरित्र का विकास और चरित्र-विकास के ये तीन वडे स्तंभ हैं—अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह।

हम अभय की मुद्रा का विकास करना चाहें तो अहिंसा का विकास करे, अहिंसा अभय की एक मुद्रा है। सत्य का विकास करें, सत्य अभय की एक मुद्रा है। असंग्रह का विकास करें, असंग्रह अभय की एक मुद्रा है। जिसके अन्त करण में ये भावधाराए जन्म लेती हैं, सचमुच वह अभय वन जाता है। मैं यह नही कहता कि संग्रह नही हो। क्योकि गृहस्थ के पास कुछ न कुछ संगृहीत होता ही है। एक वात स्पष्ट समझ ले—संग्रह होना और सग्रह के प्रति तीव्र आसक्ति होना—ये दो बातें है। हिंसा अनिवार्यता है। हिंसा होना और हिंसा के प्रति लगाव होना—ये स्पष्टतः दो बातें है। कभी-कभी असत्य का प्रसग भी आ जाता है, किन्तु असत्य की प्रेरणा वनी रहना और इस वात मे आस्था जम जाना कि इस युग मे असत्य के विना काम नही चल सकता, विल्कुल दो बातें है। हमारी आसक्ति प्रवल न हो। अनिवार्यता और आसक्ति के बीच मे एक सूक्ष्म और संकरी रेखा को हम स्पष्ट समझें। पदार्थ के विना काम नही चल सकता। पदार्थ होता है, अनिवार्यता है। गृहस्थ तो क्या, साधु का भी काम नही चल सकता। साधु के पास भी कपड़ा है, पुस्तकें है, पात्र हैं। साधु के पास भी शिष्य है। पदार्थ हैं, व्यक्ति हैं। कोई भी जीवन धारण करने वाला, ससार मे रहने वाला इन सवसे कटकर जी नही सकता। इन सवके साथ जीता है तो इन सवके प्रति जव ममत्व का भाव क्षीण, शात वनता है तो संग्रह नही वनता, परिग्रह नही वनता। ममत्व का भाव जाग गया तो एक कपडा भी परिग्रह वन जायेगा। यह पुस्तक भी परिग्रह वन

जाएगी। प्रेक्षा उस सचाई का प्रमाण है कि हमारी मूर्च्छा कितनी कमजोर होती है ? यह आसक्ति को दुर्बल बनाने का प्रयत्न है, शक्ति के जागरण का प्रयत्न है और आनन्द को जगाने का प्रयत्न है। कोरी शक्ति नही, दोनो के बीच मे शक्ति, एक ओर चेतना, एक ओर आनंद। ये दो तट हैं और बीच मे शक्ति की धारा प्रवाहित हो। कोई खतरा नही होता। आनन्द का तट टूट जाए, चेतना का तट टूट जाए और कोरी शक्ति जाग जाए तो उपद्रव की बात होती है, फिर विद्रोह और ध्वस की बात होती है। शक्ति का जागरण भी बडा खतरनाक है। विजली बहुत उपयोगी है, पर विजली बहुत खतरनाक भी है। विजली खोल मे है तब तो ठीक है, पर खुले तार को हाथ छू जाए, बडा खतरनाक काम हो जाता है। हमारी चेतना का जागरण हो, चेतना शुद्ध बने, निर्मल बने। चेतना शुद्ध होगी तो अभय की मुद्रा विकसित होगी। चेतना का अनुभव अपने आप मे अभय है।

एक मुनि जंगल मे ध्यान कर रहे थे। वे खडे थे। एक साप आया और मुनि को डसकर चला गया। एक आदमी ने देख लिया। वह दौड़ा-दौडा आकर मुनि से बोला—मुनिवर ! अभी-अभी एक काले साप ने आपको काट खाया है। आपको ज्ञात है ? मुनि बोले—मैं नही जानता। वह बोला—आप डरे नही ? मुनि ने कहा—नही, डर नही लगा। उसने पूछा—भय क्यो नही लगा ? क्या आप मौत से नही घबराते ? मुनि बोले—'मैं अपने घर मे था। वहा मैंने किसी सर्प को नही देखा। सभव है, किसी दूसरे को काटा हो, मुझे साप ने नही काटा।'

जब आदमी चैतन्य के अनुभव मे होता है तब सांप भी काट जाता है तो साप का जहर नही चढता। जहर भी विशेष स्थिति मे चढता है। आप जानते हैं कि जब साप काट जाता है तब घर के लोग

विशेष प्रयत्न करते हैं कि नींद न आ जाए। बिल्कुल जागरूक, इतना अप्रमत्त कि आंख में कोई झपकी भी न पड़े। वह जानता है जहर नहीं चढ़ता और सोया तो सो ही गया। उसे सोने नहीं देते। बिल्कुल जागरूक रखते हैं। जागरूकता में जहर नहीं चढ़ता। व्यक्ति अपने चैतन्य के अनुभव में होता है, तब सांप का जहर क्या करेगा? कोई असर ही नहीं होगा। चैतन्य के अनुभव में अभय की मुद्रा प्रकट होती है। वहां भय नहीं होता।

हम इस बात को आश्चर्य के साथ कहते हैं कि देखो, भगवान् महावीर को चण्डकौशिक जैसा सांप काट गया और भगवान् अविचल रहे। अरे, कोई आश्चर्य की बात ही नहीं है। किसी रास्ते चलते आदमी को सांप काट जाता और अविचलित रहता तो आश्चर्य की बात थी, पर महावीर जैसे व्यक्ति के लिए, जो निरन्तर अपनी चेतना का अनुभव कर रहे थे, सांप काट जाए, कोई फर्क पड़ने वाला नहीं था। महावीर के लिए यह घटना कोई बड़ी घटना नहीं थी, कोई आश्चर्य की बात भी नहीं थी। अध्यात्म की परम भूमिका का अनुभव करने वाला व्यक्ति कभी सांप के पास नहीं फटकता और सांप उसके पास नहीं फटकता। वह जहर के पास नहीं जाता, जहर उसके पास नहीं जाता। दोनों का सम्बन्ध ही नहीं जुड़ता, तो आश्चर्य की कौन-सी बात है?

चेतना का अनुभव अभय की मुद्रा का अनुभव है। आनन्द का अनुभव अभय की मुद्रा का अनुभव है। हर्ष नहीं, आनन्द। आनन्द की बात कर रहा हूं, हर्ष की बात अलग है। हर्ष में तो भय आ जाता है। हर्ष और शोक—दोनों का संबंध है, युगल है, जोड़ा है। हर्ष आयेगा तो शोक को आना ही पड़ेगा। शोक आयेगा तो हर्ष को आना ही पड़ेगा। यह नहीं हो सकता कि कोई अकेला आ जाए। साथ-साथ

आएगे। थोडा आगे-पीछे हो सकता है। इतनी देरी हो सकती है कि एक साथी पहले पहुच जाए और दूसरा साथी घंटा भर वाद पहुच जाए। आखिर पहुचना पडेगा। दोनो साथी हैं। अलग कैसे रहेगे? आनन्द मे न हर्प है और न शोक है। यह दोनो से परे की अवस्था है। प्रेक्षा के द्वारा आनन्द की ऊर्मिया जागती है। वह आनन्द, जिसका सम्वन्ध है केवल समता से। समता के अनुभव से आनन्द जागता है, न हर्प, न शोक। उस स्थिति मे हमारी अभय की मुद्रा बनती है।

अभय की मुद्रा के दो बडे साधन है—चेतना का अनुभव और आनन्द का अनुभव। प्रेक्षा का काम है इन दोनो को विकसित करना। प्रेक्षा है भीतर मे देखना। वाहर को देखता है तव भय जागता है। सारा भय वाहर से लगता है। इसका कारण वहुत स्पष्ट है। हमारे जितने मूल्य, मापदण्ड और मान्यताए है वे दूसरे के कारण है। मैं दूसरे को देखूगा तो दो प्रकार की प्रतिक्रियाए हो सकती हैं। कोई मुझसे छोटा है तो मेरे मन मे अहकार की भावना जागेगी। कोई मुझसे वडा है तो मेरे मन मे हीन भावना जागेगी। यह अहकार की ग्रन्थि और हीन भावना की ग्रन्थि—दोनो ग्रन्थिया पर-दर्शन से पैदा होती हैं। जितने सामाजिक मूल्य है, मापदड है वे सारे के सारे पर-दर्शन से पैदा होते है।

पडौसी ने ऐसा विवाह किया, यदि मै वैसा नही करूगा तो लोग क्या समझेंगे? अच्छा ही नही लगेगा। वस, पडौसी ने किया इसलिए वह एक मूल्य वन गया, मापदड वन गया। इस समस्या का, इस भय पैदा करने वाली समस्या का पार पाना है तो अन्तर्दर्शन का अभ्यास करना होगा। जिस व्यक्ति ने अपने भीतर मे झाकना, भीतर मे देखना शुरू कर दिया उसके लिए सारे मूल्य समाप्त हो गए, सारे

विशेष प्रयत्न करते हैं कि नीद न आ जाए। बिल्कुल जागरूक, इतना अप्रमत्त कि आंख मे कोई सलवट भी न पड़े। जब जागता है जहर नही चढ़ता और सोया तो सो ही गया। उसे सोने नही देते। बिल्कुल जागरूक रखते हैं। जागरूकता मे जहर नही चढता। व्यक्ति अपने चैतन्य के अनुभव मे होता है, तब सांप का जहर क्या करेगा ? कोई असर ही नही होगा। चैतन्य के अनुभव मे अभय की मुद्रा प्रकट होती है। वहां भय नही होता।

हम इस बात को आश्चर्य के साथ कहते हैं कि देखो, भगवान् महावीर को चण्डकौशिक जैसा साप काट गया और भगवान् अविचल रहे। अरे, कोई आश्चर्य की बात ही नही है। किसी रास्ते चलते आदमी को साप काट जाता और अविचलित रहता तो आश्चर्य की बात थी, पर महावीर जैसे व्यक्ति के लिए, जो निरन्तर अपनी चेतना का अनुभव कर रहे थे, साप काट जाए, कोई फर्क पडने वाला नहीं था। महावीर के लिए यह घटना कोई बडी घटना नही थी, कोई आश्चर्य की बात भी नही थी। अध्यात्म की परम भूमिका का अनुभव करने वाला व्यक्ति कभी सांप के पास नही फटकता और सांप उसके पास नही फटकता। वह जहर के पास नही जाता, जहर उसके पास नही जाता। दोनो का सम्बन्ध ही नही जुडता तो आश्चर्य की कौनसी बात है ?

चेतना का अनुभव अभय की मुद्रा का अनुभव है। आनन्द का अनुभव अभय की मुद्रा का अनुभव है। हर्ष नही, आनन्द। आनन्द की बात कर रहा हूं, हर्ष की बात अलग है। हर्ष मे तो भय आ जाता है। हर्ष और शोक—दोनो का संबंध है, युगल है, जोडा है। हर्ष आयेगा तो शोक को आना ही पडेगा। शोक आयेगा तो हर्ष को आना ही पडेगा। यह नही हो सकता कि कोई अकेला आ जाए। साथ-साथ

आएगे। थोडा आगे-पीछे हो सकता है। इतनी देरी हो सकती है कि एक साथी पहले पहुच जाए और दूसरा साथी घटा भर वाद पहुच जाए। आखिर पहुचना पडेगा। दोनो साथी है। अलग कैसे रहेगे? आनन्द मे न हर्ष है और न शोक है। यह दोनो से परे की अवस्था है। प्रेक्षा के द्वारा आनन्द की ऊर्मिया जागती है। वह आनन्द, जिसका सम्बन्ध है केवल समता से। समता के अनुभव से आनन्द जागता है, न हर्ष, न शोक। उस स्थिति मे हमारी अभय की मुद्रा बनती है।

अभय की मुद्रा के दो वडे साधन है—चेतना का अनुभव और आनन्द का अनुभव। प्रेक्षा का काम है इन दोनो को विकसित करना। प्रेक्षा है भीतर मे देखना। वाहर को देखता है तव भय जागता है। सारा भय बाहर से लगता है। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। हमारे जितने मूल्य, मापदण्ड और मान्यताए है वे दूसरे के कारण है। मैं दूसरे को देखूंगा तो दो प्रकार की प्रतिक्रियाए हो सकती हैं। कोई मुझसे छोटा है तो मेरे मन मे अहकार की भावना जागेगी। कोई मुझसे बडा है तो मेरे मन मे हीन भावना जागेगी। यह अहकार की ग्रन्थि और हीन भावना की ग्रन्थि—दोनो ग्रन्थियां पर-दर्शन से पैदा होती हैं। जितने सामाजिक मूल्य है, मापदड है वे सारे के सारे पर-दर्शन से पैदा होते है।

पडौसी ने ऐसा विवाह किया, यदि मै वैसा नही करूगा तो लोग क्या समझेंगे? अच्छा ही नही लगेगा। बस, पड़ौसी ने किया इसलिए वह एक मूल्य बन गया, मापदंड बन गया। इस समस्या का, इस भय पैदा करने वाली समस्या का पार पाना है तो अन्तर्दर्शन का अभ्यास करना होगा। जिस व्यक्ति ने अपने भीतर मे झाकना, भीतर मे देखना शुरू कर दिया उसके लिए सारे मूल्य समाप्त हो गए, सारे

मानदंड समाप्त हो गए। न कोई मूल्य है, न कोई मानदंड है। पर डर नहीं है कि कौन क्या कहेगा ? कुछ भी नहीं है। सारी बातें समाप्त हो जाती हैं। जब मूल्यातीत और मानदंडातीत भावना का विकास होता है, इसका अर्थ है अभय की मुद्रा का विकास।

०